

PAGES MISSING WITHIN
THE BOOK ONLY.

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180739

UNIVERSAL
LIBRARY

तुलसी-संदर्भ

श्रीमाताप्रसाद गुप्त

एम०ए०, एल०एल्० बी०

१९३५

विवेक-कार्यालय

प्रयाग

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक तुलसीदास-संबंधी मेरे लेखोंका संग्रह है। इसमें संगृहीत लेख पिछले चार वर्षोंमें हिंदीकी विभिन्न पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुए हैं। आज वे संशोधित रूपमें पाठकोंके सामने रखे जा रहे हैं। तुलसीदासकी रचनाओंके संबंधमें समालोचनात्मक कार्य बहुत हुआ है, किंतु उनके जीवन और रचनाओंके संबंधमें वैज्ञानिक शैलीपर खोजका कार्य अभी अधिक नहीं हुआ है। इस संग्रहके लेखोंमें यथा-संभव वैज्ञानिक शैलीका अनुसरण करनेका प्रयत्न किया गया है। उसमें लेखकको सफलता कहाँतक मिली है यह कहना विद्वानोंका काम है।

इस कार्यमें वयोवृद्ध साहित्य-सेवी और प्राच्य-भाषा-विशारद सर जार्ज ए० ग्रियर्सन, लंदन-विश्वविद्यालयमें हिंदीके रीडर डाक्टर टी० ग्रैहम बेली, सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् ज्यूल ब्लॉक तथा प्रयाग-विश्वविद्यालयमें हिंदीके रीडर और हिंदी-विभागके अध्यक्ष श्रीधीरेंद्रजी वर्माने अपनी सभ्मतियोंसे मुझे प्रोत्साहित किया है। इसलिए मैं इन विद्वानोंका कृतज्ञ हूँ।

‘हिंदुस्तानी’, ‘नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका’ ‘विशालभारत’, तथा ‘कल्याण’ के संपादकोंका मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इन लेखोंको पुस्तकाकार छपानेकी अनुमति दी है।

उद्धृत स्थलोंके लिए, मैंने ‘रामचरितमानस’ का पाठ श्रीरामदास गौड़के संस्करणसे तथा अन्य रचनाओंका पाठ काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित ‘तुलसी-ग्रंथावली’ भाग २ से लिया है। यद्यपि इन संस्करणोंमें भी संपादनकी त्रुटियाँ हैं, फिर भी हम उनपर अधिकतर निर्भर रह सकते हैं।

प्रयाग,

माताप्रसाद गुप्त

२८ सितंबर, १९३५

‘तुलसी-संदर्भ’ तथा उसके स्फुट लेखोंके संबंधमें संसारके विद्वानोंको सम्मतियाँ

सर जार्ज ए० ग्रियर्सन, ओ० एम्०, के० सी० आई० ई०, पी० एच्० डी०, डी० लिट्०, एल्-एल्० डी०, एफ्० बी० ए०, ग्रेटब्रिटेन और आयरलैंडकी रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके ऑनरेरी वाइस-प्रेसीडेन्ट, लिखते हैं—

—‘गोसाईं’-संबंधी आपका लेख अत्यंत मनोरंजक है, और वह निश्चय ही हमारे सामने खोजका एक आवश्यक क्षेत्र खोल देता है ।

—‘मूल गोसाईंचरित’-संबंधी आपका लेख अत्यंत मनोरंजक और निश्चायक हैं । वस्तुतः, मैं कहूँगा कि वह अत्यंत निश्चायक है.....यदि यह मान लिया जाय कि उसकी हस्तलिखित प्रति शुद्ध है, तो आपने अवश्य ही अपना कथन भलीभाँति सिद्ध कर दिया है ।

—‘रचनाओंका काल-क्रम’-संबंधी आपके लेखके विषयमें मैं यह निस्संकोच कह सकता हूँ कि भारतके एक सर्वश्रेष्ठ कवि-संबंधी साहित्यमें यह एक उल्लेख-योग्य वृद्धि हुई है ।

—वस्तुतः, मुझे दो-एक बार यह समझकर दुःख हुआ कि ‘काल-क्रम’ संबंधी आपका अत्यंत विशद विवेचन अंग्रेजीमें न होनेके कारण यूरोपीय विद्वानोंको सुलभ नहीं हो सका ।

—‘रामाज्ञा-प्रश्न’-संबंधी आपका लेख अत्यंत मनोरंजक है, और वह तुलसीदास-संबंधी आपकी प्रकाशित मूल्यवान खोजोंमें एक और संख्याकी वृद्धि करता है ।

—भारतीय साहित्यके इतिहासके एक आवश्यक अंगपर आपकी इन खोजोंको मैं बहुत मूल्यवान समझता हूँ । मेरी शुभ-कामना है कि आपके ग्रंथको पूरी सफलता मिले ।

रेवरेंड डाक्टर टी० ग्रैहेम बेली, डी० लिट्०, बी० डी०, लंदन-विश्व-विद्यालयमें हिंदुस्तानीके रीडर, लिखते हैं—

—भारतमें इससमय जो कार्य ‘रचनाओं का काल-क्रम’ ऐसे प्रश्नोंके विवेचनके संबंधमें हो रहा है उसे देखते हुए मुझे हर्ष होता है ।

श्री आर० पी० ड्यूहर्स्ट, एम्० ए०, आई० सी० एस्०, इंडिया इन्स्टी-ट्यूट, ऑक्सफर्ड से लिखते हैं—

—‘रामाज्ञा-प्रश्न’ तथा ‘विनयपत्रिका’-संबंधी दोनों लेख मुझे बहुत मनोरंजक प्रतीत हुए, वस्तुतः वे अत्यंत सुंदर ढंगसे लिखे गए हैं ।

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् ज्यूल ब्लॉक, पेरिससे लिखते हैं—

—‘रचनाओंका काल-क्रम’ संबंधी आपका लेख पढ़नेपर मैं सत्यशः आपकी खोजकी परिपूर्णतासे प्रभावित हुआ ।

प्रसिद्ध रूसी विद्वान् ए० बरासिकेव, लेनिनग्राडसे लिखते हैं—

—‘रामाज्ञा-प्रश्न’-संबंधी आपका लेख मैंने बड़े चावसे पढ़ा, और उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। मैं स्वतः कुछ समयसे तुलसीदासका अध्ययन कर रहा हूँ।... आपका यह विज्ञतापूर्ण लेख मेरे बहुत कामका है।

श्रीधीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, प्रयाग-विश्व-विद्यालयमें रीडर और हिंदी-विभागके अध्यक्ष, पेरिससे लिखते हैं—

—प्रकाशित निबंधोंको पुस्तकाकार छपानेका विचार बहुत उत्तम है। वास्तवमें इन लेखोंके एक जगह संगृहीत हो जानेसे ‘तुलसीदास’ के विद्यार्थी विशेष लाभ उठा सकेंगे। भविष्यकी खोजके लिए यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक होगा।

प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, प्रयाग-विश्वविद्यालयमें अंग्रेज़ी-विभागके अध्यक्ष लिखते हैं—

—तुलसीदास-संबंधी आपके लेख विशद, विचारयुक्त तथा परिश्रमपूर्ण हैं, और वे अत्यंत सावधानतापूर्वक लिखे गए हैं।

श्रीश्यामसुंदरदास, बी० ए०, रायबहादुर, काशी-विश्वविद्यालयमें हिंदी-विभागके अध्यक्ष, लिखते हैं—

—‘काल-क्रम’-संबंधी आपका लेख मैंने पढ़ा। आपकी विवेचनप्रणाली प्रशंसनीय है।

पंडित रामचंद्र शुक्ल, काशी-विश्व-विद्यालयमें हिंदीके अध्यापक, लिखते हैं—

—‘मूल गोसाईं-चरितकी ऐतिहासिकतापर कुछ विचार’-नामक आपका प्रबंध मैंने पहले भी पढ़ा था अब भी पढ़ गया। मुझे यह देखकर सचमुच बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपने इतने व्योरेके साथ उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध कर दी।

श्रीरामदास गौड़, एम्० ए० लिखते हैं—

—‘कवितावली’ पर आपका लेख पहले ही पढ़ चुका हूँ, ‘गोसाईं’ पर भी आपका लेख पढ़ गया। आपकी लेख-शैली और विचार-सरणी देखकर सराहना किए बिना नहीं रह सकता।

श्रीनलिनीमोहन सान्याल, एम्० ए०, भाषा-तत्त्व-रत्न, कलकत्ता-विश्व-विद्यालय में हिंदी-विभागके भूतपूर्व-अध्यक्ष, लिखते हैं—

—आपका ‘रचनाओंका कालक्रम’-संबंधी लेख परिश्रमपूर्ण खोज तथा अपूर्व विद्वत्तासे भरा हुआ है। इस परम मूल्यवान् कृतिके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। हिंदी-साहित्य-संसार आपकी इस बहुमूल्य सेवाके लिए आपका ऋणी रहेगा।

विषय-सूची

	पृष्ठ
१—‘तुलसीदास’ नामके साथ लगे हुए ‘गोसाईं’ शब्दका रहस्य ...	११
२—‘कवितावली’ और तुलसीदासके अंतिम दिन ...	१६
३—‘मूल गोसाईंचरित’ की ऐतिहासिकतापर कुछ विचार ...	२३
४—गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंका काल-क्रम ...	३४
५—‘रामाज्ञा-प्रश्न’ और ‘रामशलाका’ ...	१०६
६—‘रामचरितमानस’ की सबसे प्राचीन प्रति ...	११४
७—‘विनयपत्रिका’ में सुरक्षित तुलसीदासके आध्यात्मिक विचार ...	१३१
८—भगवान् शिव और गोस्वामी तुलसीदास ...	१४८

‘तुलसीदास’ नामके साथ लगे हुए ‘गोसाईं’ शब्दका रहस्य

(‘गोसाईं’ शब्द संस्कृत ‘गोस्वामी’ का एक विकृत रूप है, जिसका अर्थ मूलतः ‘इंद्रिय-निग्रही’ होता है । किंतु इस शब्दका प्रयोग एक सीमित अर्थमें कई शताब्दियोंसे होता चला आ रहा है, फलतः कभी-कभी जब हम साधारण योगियों और सन्यासियोंको भी इस शब्द-द्वारा संबोधित करते हैं तो वह अधिकतर हमारी असावधानीका परिचायक होता है । (वस्तुतः ‘गोसाईं’ उपाधिके अधिकारी वे ही साधु माने जाते हैं जो कतिपय विशिष्ट संप्रदायोंमें दीक्षित होते हैं । ऐसे संप्रदाय गिनतीके पाँच हैं—‘वृंदाबनी,’ ‘गौडीय,’ ‘गोकुलस्थ,’ ‘राधावल्लभी’ और ‘दशनामी’ ।)

‘वृंदाबनी’ गोसाईं राधा-कृष्णके उपासक होते हैं । इनके प्रथम आचार्य कदाचित् महात्मा निम्बार्क थे, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है ।

‘गौडीय’ गोसाईं कृष्णोपासक होते हैं । इनके आदि-आचार्य चैतन्य महाप्रभु थे, जिनका गोलोकवास सं० १५८४ में हुआ माना जाता है ।^१ नाभादासजीके समयमें पूर्वीय भारतमें चैतन्यस्वामी कृष्णके अवतार माने जाते थे, जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने एक छप्पयमें किया है ।^२ चैतन्य-देवके प्रेमका आदर्श गोपियोंका प्रेम था और यही उनके अनुयाइयोंका भी हुआ ।

‘गोकुलस्थ’ गोसाईं उपाधि-द्वारा महाप्रभु वल्लभाचार्यके दूसरे पुत्र गोसाईं बिट्टलनाथ और उनके उत्तराधिकारी अभिहित होते हैं । गोसाईं बिट्टलनाथजीका समय सं० १५७२ से सं० १६४४ तक माना जाता है । गोसाईं बिट्टलनाथजी वात्सल्य-भावके साथ कृष्णके उपासक थे । नाभादासजीने लिखा है कि नंदने द्वापरमें “कृष्ण-प्रेममें वात्सल्य-सुखका जो अपूर्व अनुभव किया उसीका अनुभव कलियुगमें वल्लभाचार्यके पुत्र बिट्टलनाथने अपने पुत्रोंके

^१ रामचंद्र शुक्ल, ‘हिंदी-साहित्यका इतिहास,’ पृष्ठ १७९

^२ ‘भक्तमाल,’ छप्पय ७२

प्रेममें किया ।^१ फलतः कृष्णकी वात्सल्य-भाव-मयी उपासना ही इस संप्रदायकी प्रमुख विशेषता हुई । इस संप्रदायके अधिष्ठात्रि-देव श्रीनाथजी हैं, जो पहले गोवर्धनमें स्थापित थे, किंतु सं० १७२८ से जो नाथद्वारमें स्थापित हैं ।^२

‘राधावल्लभी’ संप्रदायके संस्थापक हितहरिवंशजी थे, जो तुलसीदासके समकालीन थे । कहा जाता है कि राधिकाजीने इन्हें स्वप्नमें मंत्र दिया था, जिससे प्रेरित होकर इन्होंने ‘राधावल्लभी’ संप्रदायकी स्थापना की । सं० १५८२ में इन्होंने राधावल्लभीकी मूर्ति वृंदावनमें स्थापित की थी और वहीं विरक्त भावसे रहने लगे थे ।^३ इनकी उपासनाके संबंधमें लिखते हुए नाभादासजीने लिखा है कि “इनकी भक्ति प्रधानतः श्रीराधाके चरणोंमें अत्यंत दृढ़ थी और इन्होंने दंपतिके केलिकुंज-संबंधी सेवाओंका भार विशेष-रूपसे अपने ऊपर लिया था ।”^४ फलतः, अब भी इस संप्रदायकी भक्ति सखीभावकी मानी जाती है ।^५

‘दशनामी’ गोसाइयोंके गिरि, पुरी, भारती आदि दस भेद होते, हैं इसी कारण उनका यह नाम पड़ा । अधिकतर इन्हें शैव-संप्रदायका अंग माना जाता है, किंतु वस्तुतः शिवकी उपासना इस संधमें अनिवार्य नहीं है । सन् १८७१-८२ में लिखे हुए इस संबंधमें प्रमाण माने जानेवाले अपने ग्रंथ ‘हिंदू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऐज़ रिप्रेजेंटेटिव एट् बनारस’ (पृ० २५५) में लिखते हुए एम्० ए० शेरिंग साहब कहते हैं, “भारतके इस भागमें दशनामी गोसाईं विष्णुके उपासक होते हैं, यद्यपि कुछ अन्य भागोंमें वे शिव-भक्त जान पड़ते हैं । प्रत्येक स्थानपर श्रीशंकराचार्य ही उनके गुरु माने जाते हैं ।” फलतः इनका धर्म ‘स्मार्त’ है जिसके पुनरुद्धारक श्रीशंकराचार्य थे । श्रीशंकराचार्यने अद्वैत-मत और ज्ञान-मार्गके पोषक होते हुए भी उसके आदर्शकी दुरुहताके कारण कुछ देवताओंकी

१ ‘भक्तमाल’, छप्पय ९८

२ ‘हिंदुस्तानी’, अप्रैल १९३३ ई०, पृ० १०३-१०७

३ रामचंद्र शुक्ल, ‘हिंदी-साहित्यका इतिहास’, पृ० १७७

४ ‘भक्तमाल’, छप्पय ९०

* ‘मूल गोसाईंचरित’-कार ने लिखा है कि “वृंदावनसे हितहरिवंशने तुलसीदासके पास अपने दो प्रिय शिष्योंके हाथ ‘यमुनाष्टक’, ‘राधा-सुधा-निधि’, और ‘राधिकातंत्र महाविधि’ नामक ग्रंथ भेजे थे, और एक पत्रिका भेजी थी जो सं० १६०९ की जन्माष्टमीकी थी । उस पत्रिकामें यह लिखा हुआ था, और शिष्योंसे भी हितजीने जबानी कहलाया था, कि आनेवाली कार्तिकी पूर्णिमाके दिन ही शरीर-त्याग करनेकी उनकी बड़ी आकांक्षा थी, इसीलिए वे गोस्वामीजीसे आशीर्वाद चाहते थे कि वे कुंज-लाभ करें । इस विनतीको सुनकर तुलसीदासने ‘एवमस्तु’ कहा और हितजीने शरीर त्यागकर तदनुसार नित्य-निकुंजमें प्रवेश किया ।” (‘मूल गोसाईंचरित’, दो० ८) किंतु ‘मूल गोसाईंचरित’ की कितनी बातें मान्य हैं यह कहना कठिन है (देखिए ‘मूल गोसाईंचरित’ की ऐतिहासिकतापर कुछ विचार’ शीर्षक लेख आगे) ।

उपासना साधन-रूपसे मान ली थी—विशेषतः पंच-देव अर्थात् शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश, और शक्तिकी। ‘स्मार्त’ धर्मका मूल-सिद्धांत इस प्रकार है—“ब्रह्म या परब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, वही इस जगतका कारण और विधाता है, और वह शिव, विष्णु, और ब्रह्मा या किसी भी देवतासे भिन्न है। उस ब्रह्मका ज्ञान ही सबसे अधिक श्रेयस्कর है। उसके यथार्थ ज्ञानसे मुक्ति और अद्वैतता प्राप्त होती है। किंतु इसलिए कि मनुष्यका मस्तिष्क उस अनिर्वचनीय मूल-कारणके अनुभवके लिए असमर्थ है, उसका अनुभव देवताओंके ध्यान-द्वारा किया जा सकता है, और उसकी प्राप्ति के लिए शास्त्रोक्त साधनोंको व्यवहारमें लाया जा सकता है। यह धर्म हिंदुओंके सभी देवताओंका आदर करता है, और निम्नलिखित देवताओंकी उपासनाका तो शंकराचार्यकी ही स्पष्ट अनुमतिसे उनके शिष्योंने उपदेश किया था—शिव, विष्णु, कृष्ण, सूर्य, शक्ति, गणेश, और भैरव।”^१

अब, प्रश्न यह है कि तुलसीदास ऊपरके पाँच प्रकारके गोसाइयोंमेंसे किसमें स्थान पा सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि न तो उन्हें ‘वृंदाबनी’ गोसाई कहा जा सकता है, न ‘गौड़ीय’, न ‘गोकुलस्थ’, और न ‘राधावल्लभी’। हमें यह देखना है कि क्या वे ‘दशनामी’ गोसाइयोंमें रक्खे जा सकते हैं।

(यदि हम गोस्वामी तुलसीदासकी रचनाओंको पढ़कर उनके दार्शनिक और धार्मिक विचारोंका समन्वय करते हैं, तो हम उन्हें पूरा ‘स्मार्त’ पाते हैं। शुद्ध ‘वैष्णव’ धर्म और ‘स्मार्त’ धर्ममें एक महान् अंतर है, वह यह है कि ‘वैष्णव’ धर्म ‘एकांतिक’ धर्म है, उसके शुद्ध रूपमें विष्णु और उनके किसी अवतारके अतिरिक्त किसी अन्य देवताके लिए स्थान नहीं है, और ‘स्मार्त’ धर्म सभी देवताओंको आदरकी दृष्टिसे देखता है। एक दूसरा अंतर दोनोंमें यह है कि ‘वैष्णव’ धर्म विष्णुको ही ईश्वर और सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानता है, किंतु ‘स्मार्त’ धर्म त्रिदेवोंसे परे ब्रह्मको ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति, और मूल-कारण मानता है; उसकी दृष्टि में त्रिदेव अथवा किसी भी देवताकी उपासना वहींतक सार्थक है जहाँतक वह उस अनिर्वचनीय शक्तिका अनुभव करा सकती है। यदि हम इस दृष्टिसे गोस्वामीजीकी रचनाओंका अध्ययन करते हैं तो हमें पहलेकी अपेक्षा दूसरे ही धर्मकी ओर उनका स्पष्ट झुकाव जान पड़ता है।

तुलसीदासने अपनी संपूर्ण रचनाओंमें रामको ब्रह्म कहा है और कितने ही स्थलोंपर उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, और शिवसे भी ऊपर माना है।

विधि हरि संभु नचावन हारे।

^१ ‘एनसाइक्लोपिडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्स’ के ‘स्मार्त’ शीर्षक लेखसे।

में 'नचावन' शब्द-द्वारा अपनी यह धारणा उन्होंने नितांत स्पष्ट कर दी है। किंतु जो बात अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि राम 'हरि' (विष्णु) को भी नचानेवाले हैं। इसी सिद्धांतको 'मानस' के सती-मोह-प्रकरणमें एक प्रत्यक्ष वटनाके रूपमें उन्होंने इस प्रकार रक्खा है—

सती दीख कौतुक मग जाता । आगे राम सहित श्री आता ॥
 फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा । सहित बंधु सिय सुंदर बेषा ॥
 जहँ चितवहिँ तहँ प्रभु आसीना । सेवहिँ सिद्ध मुनीस प्रवीना ॥
 देखे सिव बिधि विष्णु अनेका । अमित प्रभाउ एक ते एका ॥
 बंदत चरन करत प्रभु सेवा । विविधि बेष देखे सब देवा ॥
 पूजहिँ प्रभुहिँ देव बहु बेषा । रामरूप दूसर नहिँ देखा ॥
 अवलोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न बेष घनेरे ॥
 सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता । सती देखि अति भई सभोता ॥^१

यहाँ भी हम वही बात पाते हैं—सभी देवता जिनमें विष्णु भी सम्मिलित हैं रामके चरणोंकी वंदना करते हैं और उनकी पूजा करते हैं। किंतु इस प्रसंगमें इतना और भी ध्यान देने योग्य है कि देवता अनेक वेषोंमें रामकी पूजा करते हैं किंतु रामका रूप परिवर्तित नहीं होता। यद्यपि सतीने अनेक राम भी देखे किंतु सीता-राम (अर्थात् माया और ब्रह्म) का वेष उन अनेक परिस्थितियोंमें भी वही बना रहा। यह तथ्य इस प्रकारसे रखनेमें तुलसीदासका प्रयोजन यह जान पड़ता है कि वे रामका निर्देश उस अपरिवर्तनीय मूल-सत्ताके रूपमें करना चाहते हैं जिसे दार्शनिक भाषामें ब्रह्म कहकर अभिहित किया जाता है।

वस्तुतः तुलसीदासके राम विष्णुके अवतार नहीं हैं, वे स्वयं सगुण ब्रह्म हैं, यदि 'मानस'में एकाध स्थलपर हमें यह भी मिलता है कि राम विष्णुके अवतार हैं तो यह उस 'अध्यात्म-रामायण' की प्रतिच्छाया है जिसमें आदिसे अंततक रामको विष्णुका अवतार, विष्णुको ईश्वर, और ईश्वरको सर्वोपरि सत्ता माना गया है। दूसरी ओर, 'मानस' की तो पूरी कथा ही पार्वतीकी इस शंकाके समाधानके लिए कही गई है—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।

सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥^२

किंतु, स्वयं तुलसीदासने भी उन राम-ब्रह्मकी प्राप्ति के लिए अन्य देवताओंकी उपासनाकी थी—'विनयपत्रिका' के अनेक पदों और स्तोत्रोंमें उन्होंने

^१ 'रामचरितमानस,' बाल०, दो० ५४, ५५ (रामदास गौड़का संस्करण)

^२ वही, बाल०, दो० ५०

सनातनसे चले आते लगभग सभी हिंदू देवियों और देवताओंक वंदना की है। और, ‘मानस’ के अयोध्याकांडमें चित्रकूट आए हुए अयोध्याके नर-नारियोंसे भी उन्होंने पंचदेव-पूजा करवाई है, जो अन्य किसी ‘रामायण’ में नहीं मिल सकती। चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥
करि मञ्जन पूजहि नर नारी। गनपति गौरि पुरारि तमारी ॥
रमा रमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी ॥^१

ऊपर ‘दशनामी’ गोसाइयों और ‘स्मार्त’-धर्मका परिचय देते हुए जिन पाँच प्रमुख देवोंका उल्लेख किया गया है, हम देखते हैं कि उन्हींका उल्लेख ऊपरकी चौपाइयोंमें भी हुआ है।

एक अन्य प्रकारसे भी यह अनुमान होता है कि तुलसीदास ‘स्मार्त’ थे—वह है ‘मानस’-रचनाके प्रारंभकी तिथि-द्वारा। रामनवमियाँ दो होती हैं, एक स्मार्तोंकी और दूसरी वैष्णवोंकी। स्मार्तोंकी रामनवमी उस दिन पड़ती है जिस दिन मध्याह्नमें भी नवमीकी तिथि रहती है, किंतु वैष्णवोंकी रामनवमी उस दिन पड़ती है जिस दिन वह तिथि मध्याह्नके पूर्व ही समाप्त हुई रहती है। यदि हम किसी भी वर्षके पंचांगको उठा कर देखें तो यह भेद स्पष्ट हो जायगा। ‘मानस’ के प्रारंभकी तिथि तुलसीदास इस प्रकार देते हैं—

संवत सोरह सै श्वतीसा। करौ कथा हरिपद धरि सीसा।
नवमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥^२

गणनासे यह भलीभाँति प्रमाणित है, कि वैष्णवों की रामनवमी सं० १६३१ में बुधवार को पड़ती है और स्मार्तोंकी मंगलवारको। यहाँपर तुलसीदासने स्पष्ट ही भौमवार (मंगलवार) को रामनवमी मानकर अपने विश्व-विश्रुत ग्रंथके प्रणयनका प्रारंभ किया है, फलतः उनके ‘स्मार्त’ होनेमें और भी कम संदेह रह जाता है।

‘दशनामी’ गोसाई अधिकतर शिवोपासक ही हुआ करते हैं, इस कारण बहुधा उन्हें शैव-संप्रदायकी एक शाखा-मात्र माना जाता है, जो कदाचित् नितान्त ठीक नहीं है क्योंकि उनका धर्म ‘स्मार्त’ है जैसा ऊपर कहा जा चुका है। और शिवके लिए तुलसीदासके हृदयमें अत्यंत ऊँचा स्थान है, यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम सभी जानते हैं। अपने ‘मानस’ के प्रारंभिक तीन कांडों का

^१ ‘रामचरितमानस’, अयोध्या०, दो० २७३ (रामदास गौड़का संस्करण)

^२ वही, बाल०, ३४

प्रारंभ ही वे शिवकी वंदनासे करते हैं, और रामकी वंदना तीनों बार वे उसके पीछे करते हैं। पुनः, 'मानस' की भूमिका में वे कहते हैं—

गुरु पितु मातु महेस भवानी । प्रणवों दीनबंधु दिन दानी ॥

सेवक स्वामि सखा सिय पिय के । हित निरूपधि सब विधि तुलसी के ॥^१

हित-उपदेशके लिए शंकरको गुरु माननेकी बातका समर्थन वे अपने जीवनके अंतिम दिनोंमें कहे गए नीचे लिखे छंदकी दूसरी पंक्तिमें स्पष्ट-रूपसे कहते हैं—

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित

हित उपदेशको महेस मानो गुरु कै ॥

मानस बचन काय सरन तिहारे पाय

तुम्हारे भरोसे सुर मै न जाने सुर कै ॥

व्याधि भूत जनित उपाधि काहू खलकी

समाधि कीजै तुलसी को जानि जन फुरकै ॥

कपिनाथ खुनाथ भोलानाथ भूतनाथ

रोगसिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै ॥^२

संतोंने गुरु और गोविंदमें कभी अंतर नहीं किया है, और तुलसीदासने तो 'विनयपत्रिका' के एक स्तोत्रमें जो 'हरि-शंकरी' नामसे प्रख्यात है दोनोंकी स्तुति भी एकत्र की है।^३ इतना ही नहीं, 'विनयपत्रिका' के एक अन्य स्तोत्रमें उन्होंने शिवको न केवल 'निर्गुण निर्विकार' कह कर संतोष किया है वरन् 'विष्णु-विधि-वंध-चरणारविंद' तक कह डाला है।^४

प्रश्न यह है कि क्या सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीका निरा वैष्णव कभी यह कह सकता था कि राम ब्रह्मा, विष्णु, और शिवको 'नचानेवाले' हैं, अथवा उससे भी अधिक यह कि शिवके चरणोंकी वंदना विष्णु और ब्रह्मा भी करते हैं। यदि ऐसे वैष्णव साधुके सिरकी विधिवत् पूजा 'वैरागी' नामक विरक्त-वैष्णव-दलने न की तो निस्संदेह उसने अपने दलके इतिहासमें एक असामान्य घटनाको स्थान दिया। किंतु न तो कोई इस प्रकारकी जनश्रुति है और न इस विषयका कोई उल्लेख तुलसीदासने ही किया है कि वैष्णवोंने भी उन्हें कभी कष्ट पहुँचाया। उलटे, उन्होंने यह कहा है कि शिवके उपासकों और सेवकोंने उन्हें पीड़ा पहुँचाई। 'विनयपत्रिका' के एक पदमें वे शिवसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

^१ 'रामचरितमानस,' बाल०, दो० १५ (रामदास गौड़का संस्करण) ।

^२ 'बाहुक,' ४३

^३ 'विनयपत्रिका,' ४९

^४ वही, १२

गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे ।

अधिभौतिक बाधा भई ते किकर तोरे ॥

बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे ।

तुलसी दलि रूँध्यो चहँ सठ साखि सिहोरे ॥^१

कितनी आर्त प्रार्थना है ! ‘तुम्हारे गाँवमें बसते हुए भी मैंने तुमसे कभी कोई याचना नहीं की...।’ और, ‘कवितावली’के एक छंदमें वे यहाँतक कहते हैं, ‘यदि आप मेरी प्रार्थना नहीं सुनते तो मुझे अपने स्वामी से कहना पड़ेगा । उसपर यदि मेरे स्वामी आपको कुछ उलाहना दें तो उसके लिए मुझे मत उलाहना दीजिएगा, मैं अपना कर्तव्य कर चुका’—

देवसरि सेवौ बामदेव गाँव रावरे ही

नाम राम ही के मागि उदर भरत हौं ।

दीवे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु

लिखा न भलाई भाल पोच न करत हौं ॥

एते पर हू जो कोऊ रावरो हू जोर करै

ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं ।

पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजै मोहि

काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं ॥^२

अब, प्रश्न यह है कि किसी ऐसे वैष्णवको शिवके सेवकोंने क्यों कष्ट पहुँचाया होगा जो वैष्णव होता हुआ भी शिवके लिए ‘विष्णु-विधि-वंध-चरणारविंद’ पद का प्रयोग करता हो ।

बाहुपीड़ाके भयंकर रूप धारण करनेपर अपने जीवनसे निराश-से होते हुए तुलसीदासने ‘बाहुक’के दो छंदोंमें अपने पिछले जीवनकी कुल कथा बड़े सुंदर ढंगसे कह डाली है । इन्हींमेंसे एक इसप्रकार है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो

राम नाम लेत मागि खात दूक टाक हौ ।

परयो लोकरीति मैं पुनीत प्रीति रामराय

मोदबस बैठ्यो तोरि तरक तराक हौं ॥

खोटे खोटे आचरन आचरत अपनाथो

अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौ ।

तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो

ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥^३

^१ ‘विनयपत्रिका’, ८

^२ ‘कवितावली’, उत्तर० १६५

^३ ‘बाहुक’, ४०

अर्थात् 'वाल्यावस्थामें मैं स्वभावतः राम-सन्मुख हुआ, रामका ही नाम लेकर टुकड़े माँगता खाता था । फिर लोकाचारोंमें पड़ कर जब सोहवश रामकी पुनीत प्रीतिको यकायक तोड़ बैठा तब मुझे दुराचरणोंमें पड़ा हुआ देखकर रामके सेवक हनुमानने मेरा उद्धार किया और मुझे रामके पवित्र करोंकी प्राप्ति हुई । किंतु, मैं 'गोसाई' होगया और अपने दुर्दिनोंको भूल गया उसीका फल अंतमें मैं भलीभाँति इस रूपमें पारहा हूँ ।' उस 'फल'की ओर आगेके छंदमें इन शब्दोंमें संकेत किया गया है—

ताते तनु देखियत घोर बरतोर मिस

फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥^१

इन कुल बातोंके आधारपर स्वतः यह धारणा होती है कि 'तुलसीदास' नामके आगे लगा हुआ 'गोसाई' शब्द केवल विरक्तिका परिचायक नहीं है । संभवतः वह उनके किसी 'गोसाई' उपाधि देनेवाले संप्रदायमें दीक्षित होनेपर उनके नामके साथ लगा । यह 'गोसाई' संप्रदाय कमसे कम इस समयके वैष्णव-गोसाई संप्रदायोंमें से कोई न था । गोसाईजीकी कृतियोंमें 'स्मार्त'मतकी इतनी गहरी छाप है, और शिवके प्रति उनकी इतनी ऊँची भावनाएं हैं कि अधिकतर संभव यही जान पड़ता है कि वे 'दशनामी' संप्रदायमें दीक्षित हुए थे—या ऐसे ही किसी अन्य 'स्मार्त' संप्रदायमें, जो 'गोसाई' उपाधि अपने अनुयायियोंको देता था और अब वह संप्रदाय लुप्त होगया है । यह भी निश्चित-सा है कि वे 'स्मार्त' अंततक नहीं बने रहे, और किसीसमय पक्के 'वैष्णव' होगए, कदाचित् इसीकारण शिवके सेवकोंने उन्हें कठिन पीड़ा भी पहुँचाई, किंतु वह 'गोसाई' उपाधि जो एकबार उन्हें मिल चुकी थी अंततक उनके नामके साथ लगी रही और आज भी लगी चली आरही है । यह क्रिया कालांतरके प्रयोगके कारण इतनी स्वाभाविक-सी होगई है कि अधिकतर हम तुलसीदासका नाम लेने के स्थानपर जब कभी उनका बोध कराना होता है, केवल 'गोसाईजी' या 'गोस्वामीजी'-नामक उनकी उपाधियोंद्वारा ही उनका बोध कराते हैं । किंतु वस्तुतः, क्या उनके नामके साथ लगा हुआ 'गोसाई' शब्द इतना निरीह है कि हमें उसपर विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं ? संभवतः उसमें एक तत्व छिपा हुआ है जिसके अनुसंधानका प्रयत्न कदाचित् अभीतक नहीं किया गया है । आशा है कि विद्वानोंका ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा ।

‘मूल गोसाईंचरित’ की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार

‘मूल गोसाईंचरित’ में जिन प्रमुख साहित्यिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंधमें उल्लेख आए हैं वे इसप्रकार हैं :—

साहित्यिक—हितहरिवंश, सूरदास, गोकुलनाथ, मीराबाई, रसखान, केशवदास, नाभादास, नंददास, मलूकदास तथा गंग ।

ऐतिहासिक—उदयसिंह, दिल्लीपति, टोडर ज़मीनदार, रहीम, जहाँगीर तथा बीरबल ।

प्रस्तुत निबंधमें साहित्यिक व्यक्तियोंमेंसे अंतिम दो तथा ऐतिहासिक व्यक्तियोंमेंसे अंतिम, अर्थात् मलूकदास, गंग तथा बीरबलको छोड़कर सबपर विचार किया गया है ।

मलूकदासका उल्लेख ‘मूल गोसाईंचरित’ में इस प्रकार आता है—

दोहा—देवमुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास ।

पहुँचे काशी में कश्यप, किये अखंड निवास ॥ ८३ ॥

और यह घटना उक्त ग्रंथके अनुसार १६२१-२२ वि० की ज्ञात होती है । बालक विनायकरावजीने देवमुरारीको मलूकदासका गुरु माना है^१ यद्यपि यह उक्त उद्धरणसे स्पष्ट नहीं होता । किंतु, साहित्यके इतिहासोंसे भी इस विषयपर प्रकाश नहीं पड़ता । मलूकदासका जन्म १६३१ वि० में हुआ था,^२ और इससमय उनकी अवस्था अधिकसे अधिक २१ वर्षकी रही होगी, अतएव, यदि वे देवमुरारीके शिष्य रहे हों तभी गोस्वामीजी ऐसे १०० वर्षके वृद्ध महात्माका^३ उनसे भी भेंट कर लेना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है । किंतु, इस विषयपर दृढ़तत्पूर्वक कुछ न कहे जा सकनेके कारण प्रस्तुत निबंधमें विचार नहीं किया गया है ।

इसीप्रकार, गंगकी मृत्यु १६६६ या १६७० वि० में होनेका उल्लेख ‘मूल गोसाईंचरित’ (दो० ६१, ६२) में होता है, और उसमें यह भी लिखा

^१ ‘श्रीमद्गोस्वामिचरितम्’, पृ० ३६

^२ रामचंद्र शुक्ल, ‘हिंदी-साहित्यका इतिहास’ पृ० ९०

^३ क्योंकि ‘मूल गोसाईंचरित’ के अनुसार गोस्वामीजीका जन्म सं० १५४४ में हुआ था । (मू० गो० च० दो० २)

है कि गोस्वामीजीको दुर्वचन कहनेके कारण मार्गमें उसे एक हाथीने मार डाला । किंतु गंगकी मृत्युका निश्चित समय न ज्ञात हो सकनेके कारण इस विषयमें ठीक कहा नहीं जा सकता; कमसे कम गोस्वामीजीको दुर्वचन कहनेके कारण उसकी ऐसी दुर्गति हुई यह उल्लेख भी कहीं अन्यत्र नहीं आया है ।

बीरबलके विषयमें 'मूल गोसाईंचरित' में इसभाँतिका उल्लेख है—

बीरबल की चरचा चली, जो पट्ट वाग विलास ।

बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, मुनि किय चोभ प्रकाश ॥ १८ ॥

यह घटना १६७० वि० की समाप्तिपर जहाँगीरके आनेपर हुई है और बीरबल १५८६ ई० (१६४२ वि०) में ही वीरगतिको प्राप्त हो चुके थे ।^१ फिर भी, उपर्युक्त उल्लेखमें उनके जीवित रहनेका आशय स्पष्ट न हो सकनेके कारण उसपर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता ।

यहाँपर विचार करनेमें 'मूल गोसाईंचरित' के उल्लेखोंका क्रम रक्खा गया है ।

हितहरिवंश

वेणीमाधवदास हितहरिवंशजीके विषयमें इसप्रकार उल्लेख करते हैं—

वृंदावन ते हरिवंश हितू । प्रियदास नवल निज सिष्य भूतू ॥

पठये नित आइ जोहार किये । गुरुदत्त सुपोधि सप्रेम दिये ॥

जमुनाष्टक राधासुधानिधि जू । अरु राधिकातंत्र महा विधि जू ॥

अरु पाति दई हित हाथ लिखी । सोरह सै नव जन्माष्टमि की ॥

तेहि माहिं लिखी बिनती बहुरी । सोइ बात मुखागर सो कहुरी ॥

रजनी महारासि की आवत जू । चित मोर सदय ललचावत जू ॥

रसिकै रस मो तनु त्याग चहौ । मोहि आशिष देख्य कुंज लहौ ॥

सोरठा—मुनि बिनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाषेक ।

तनु तजि भये सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि ॥ ८ ॥

अतः यह स्पष्ट है कि 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार—

(क) हितहरिवंशजीने १६०६ वि० के पूर्व ही 'जमुनाष्टक', 'राधासुधानिधि', तथा 'राधिकातंत्र'की रचना समाप्त की थी । और

(ख) उन्होंने १६०६ वि० की महारास-रजनी अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमाको शरीरत्याग किया ।

^१ 'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३१ ई०, पृ० १५

ग्रंथोंके विषयमें ठीक तिथियोंका अनुसंधान कदाचित् अभीतक नहीं हुआ है, किंतु ‘हितजीका रचनाकाल १६०० से १६४० वि० तक माना जाता है।’^१

हितजीकी मृत्युके निश्चित संवत्के विषयमें संभव है कोई मतभेद हो किंतु इतना निश्चित है कि उनका देहांत १६०६ वि०में नहीं हुआ क्योंकि ‘ओरछानरेश महाराज मधुकरसाहके राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी १६२२ वि० के लगभग आपके शिष्य हुए थे।’^२

सूरदास तथा गोकुलनाथ

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सैं सोरह लगै, कामद गिरि ढिग बास ।

सुभ एकांत प्रदेश महीं, आये सूर सु दास ॥ २९ ॥

पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रंग मे बोरि ।

दृग फेरत चित चातुरी, लान गोसाईं छोरि ॥ ३० ॥

कवि सूर दिखायउ सागर को । सुचि प्रेम कथा नटनागर को ॥

पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे । पद पंकज पै सिर नाय रहै ॥

अस आसिस देख्य स्याम दरै । यहि कीरति मोरि दिगंत चरै ॥

सुनि कोमल बैन सुदादि दिये । पद पोथि उठाइ लगाइ हिये ॥

कहै स्याम सदा रस चाखत हैं । रचि सेवक की हरि राखत हैं ॥

तनिको नहिं संशय है यहि मा । श्रुति शेष बखानत हैं महिमा ॥

दिन मात रहै सतसंग पगै । पद कंज गहै जब जान लगै ॥

गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये । पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये ॥ ३१ ॥

अतएव, ‘मूल गोसाईंचरित’के अनुसार सूरदास गोस्वामीजीके पास १६१६ वि०में आए । अभीतक सूरदासकी मृत्युकी तिथि निश्चित नहीं हो सकी है, किंतु अनुमान अभी किया जाता है कि उनका देहांत १६१७ वि० और १६२० वि० के बीच या कुछ ही पीछे हुआ होगा । उनके जन्म-समयका जो अनुमान विद्वान् करते आए हैं^३ उसके अनुसार १६१६ वि० में सूरदासकी

^१ रामचंद्र शुक्ल, ‘हिंदी-साहित्यका इतिहास,’ पृ० १७७

^२ वही, पृ० १७६

^३ वही, पृ० १५५

अवस्था लगभग ७६ वर्षकी रही होगी, और तुलसीदासजीकी वेणीमाधवदासके अनुसार भी ६२ से अधिककी न रही होगी, क्योंकि वे गोस्वामीजीका जन्म १५५४ वि० में हुआ कहते हैं^१, अतएव, ऊपर का विवरण सूरदास ऐसे वृद्ध महात्माके संबंध में कम प्रामाणिक जँचता है। थोड़ी देरके लिए यदि हम यह मान भी लें कि तुलसीदास और सूरदासकी भेंट हुई थी फिरभी यह नहीं माना जा सकता कि १६१६ वि० में उन्हें गोकुलनाथजीने कृष्ण-रंगमें डुबोकर भेजा होगा। यहीँतक नहीं, वेणीमाधवदासका कहना है कि गोस्वामीजीने सूरदासके हाथ उनके नाम एक पत्र भी दिया। गोकुलनाथका समय १६०८ वि० से १६१८ वि० तक माना जाता है। अतएव, यह नितांत असंभव प्रतीत होता है कि उन्होंने सूरदासको कृष्णरंगमें डुबोकर गोस्वामीजीके पास भेजा होगा, और गोस्वामीजीने भी उनके नाम पत्र दिया होगा।

मीराँवाई और उनका पत्र

वेणीमाधवदास लिखते हैं:—

लै पाति गण जब सूर कबी। उर में पधराय कै स्याम छबी।

दोहा—तव आयो मेवाड़ ते, बिप्र नाम सुखपाल।

मीराबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥ ३१ ॥

पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कबित्त बनाय।

सब तजि हरि भजिबो भला, कहि दिय बिप्र पठाय ॥ ३२ ॥

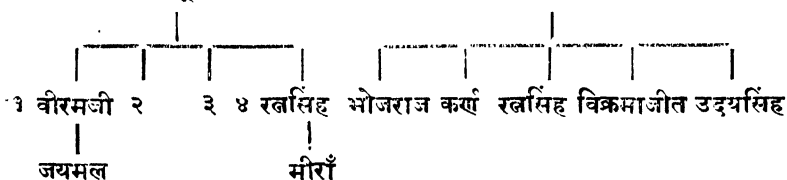
जिससे यह ज्ञात होता है कि मीराँवाईने १६१६ वि० में गोस्वामीजीको पत्र भेजा था। इस पत्रके विषयमें विचार करनेके लिए मीराँवाईके दोनों कुलोंके इतिहाससे कुछ परिचित होना पड़ेगा। इसलिए पहले दोनों राजवंशों का उपयोगी विस्तार नीचे दिया जाता है।

मेड़ता राजवंश

राव दूदाजी

मेवाड़ राजवंश

राणा साँगा



^१ 'मूल गोसाईं चरित', दो० २

इसीप्रकार, वेणीमाधवदास आगे चलकर १६५०-५१ वि० के लगभग केशवदासके प्रेतका उल्लेख करते हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार केशवका देहांत १६५१ वि० के पूर्व हो चुका होगा। वे लिखते हैं—

सोरठा—उड़छै केशवदास, प्रेत हते धरे मुनिहिं।

उधरे विनहिं प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहिं गए ॥ १९ ॥

किंतु १६५१ वि० तक तो ‘रामचंद्रिका’की भी रचना न होपाई थी, और इसमें संदेह नहीं कि यदि उस समय या उससे पूर्व ही केशवदासकी मृत्यु हो गई होती तो हिंदी-साहित्य को एक महाकवि और आचार्य खोना पड़ता। यह अवश्य है कि हमें केशवदासकी मृत्युकी निश्चित तिथिका यथार्थ ज्ञान नहीं है। फिर भी, वे १६५१ वि० के कमसे कम १८ या १९ वर्ष पीछेतक जीवित रहे यह निस्संदेह है, क्योंकि १६५८ वि० में उन्होंने ‘कविप्रिया’ तथा ‘रामचंद्रिका’, १६६४ वि० में ‘वीरसिंहदेवचरित’, १६६७ वि० में ‘विज्ञानगीता’ और १६६९ वि० में ‘जहाँगीरजस-चंद्रिका’ नामक ग्रंथोंकी रचना की। अतएव, वेणीमाधवदासका यह केशवदासके प्रेत-विषयक उल्लेख भी नितांत अमपूर्ण है।

नाभादास

वेणीमाधवदासके अनुसार १६४९ वि० के मार्गशीर्षमें गोसाईंजी वृंदावन पहुँचे और वहाँ नाभाजीसे भेंट हुई। उसके पश्चात् वे मदनमोहनके दर्शनको उनके साथ गए—

दोहा—विप्रसंत नाभा सहित, हरि दर्शन के हेत।

गए गोसाईं मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥

राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनु बान।

दर्शन दिए सनाथ किय, भक्त बल्ल भगवान ॥ ७४ ॥

यहाँपर नाभाजीको ‘विप्रसंत’ कहा गया है, किंतु नाभाजी डोम कहे जाते हैं। कुछ लोग डोमका आशय क्षत्री तथा कुछ मारवाड़ आदिकी एक गायक जातिसे लेते हैं, किंतु उन्हें ‘विप्रसंत’ कदाचित् अन्य कोई नहीं कहता। इसके अतिरिक्त, ऊपर जिस कथाका वर्णन है ‘२५२ वैष्णवनकी वार्ता’ में नंद दासजीके साथ श्रीनाथजीका दर्शन करते हुए उसी कथाका उल्लेख हुआ है। अतएव, ‘मूल गोसाईंचरित’ के इस विवरणपर भी सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

नंददास

वेणीमाधवदासने १६४१-२० वि० में ही वृंदावनमें नंददाससे भी तुलसी-दासकी भेंट कराई है।^१ किंतु '२५२ वैष्णवनकी वार्ता' में नंददासकी वार्तामें यह भी लिखा है कि वे गोस्वामीजी को गोसाईं बिट्टलनाथजीके पास लिवा गए थे। गोसाईं बिट्टलनाथजीका देहांत १६४३ वि०में हुआ, फलतः नंददाससे वृंदावनमें इससे भी पहले भेंट हुई होगी, न कि १६४१-२० वि० में। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी कदाचित् शुद्ध नहीं है।

यहाँतक हमने 'मूल गोसाईंचरित' के साहित्यिक व्यक्तियों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओंके उल्लेखोंपर विचार किया है। आगे हम उसमें आनेवाले ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओंपर विचार करेंगे।

उदयसिंह और शाही सभाओंमें उनका सम्मान

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—जेहि दिन साहि सभान में, उदय लखो सम्मान।

तेहि दिन पहुँचे अवध में, श्री गोसाईं भगवान ॥ २७ ॥

युग वत्सर बीते न वृत्ति ढग्यो।

इकतीस को संवत आन लग्यो ॥ ३८ ॥

जिससे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उदयसिंहको १६२१ वि० में शाही सभाओंमें सम्मान मिला होगा। किंतु इतिहास-लेखकोंका मत है कि सम्मान न उदयसिंहको मिला और न प्रतापसिंहको ही; वह अमरसिंह तथा कर्णको मिला, और वह भी जहाँगीरद्वारा प्रतापसिंहकी मृत्युके अनंतर। इसके अतिरिक्त, २३ फरवरी १५६८ ई० को अकबरने चित्तौरगढ़पर विजय पाई और इसके चार ही वर्ष पीछे^२ अर्थात् १६२८ वि० में उदयसिंहकी मृत्यु होगई। तब उन्हें १६२१ वि० में शाही सभाओंमें किस भाँति सम्मान मिला होगा यह समझना कठिन है।

दिल्लीपति से भेंट

वेणीमाधवदास ने १६२१ वि० के लगभग गोस्वामीजीकी दिल्लीपतिसे भेंट लिखी है। बादशाहके बुलानेपर गोस्वामीजी दिल्लीके लिए चल पड़े। मार्ग में केशवदासका वह प्रेत मिला, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

^१ 'मूल गोसाईंचरित', दो० ७५

^२ स्मिथ, 'अकबर दिग्रैट मोगल', पृ० ८८ तथा ९२

गोस्वामीजीने इसी बीच एक स्त्रीको ‘मानस’ के नवाह्निक पाठसे पुरुष बना दिया और दिल्ली पहुँचे ।^१ दिल्ली में भी बड़ा कौतुक हुआ—

दोहा—दिल्लीपात विनती करी, दिखरावहु करमात ।

मुकरि गये बंदी किए, कीन्है कपि उतपात ॥ ८० ॥

बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब वाम ।

हाहाकार महल मच्यो, पटको नृपहिं धड़ाम ॥ ८१ ॥

मुनिहिं मुक्त ततछन किए, क्षमापराध कराय ।

बिदा कीन्ह सम्मानयुत, पीनस पै पधराय ॥ ८२ ॥

इस प्रसंगमें दिल्लीपतिका आशय बालक विनायकरावजीने जहाँगीरसे लिया है और बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्री पीतांबरदत्त दड़्ढवालने भी वही लिया है ।^२ किंतु यह इतिहासकी एक बहुत ही साधारण बात है कि जहाँगीर १६६२ वि० में गद्दीपर बैठा और १६५१ वि० में अकबर दिल्लीश्वर था । अकबरके समयका अधिकांश और प्रामाणिक इतिहास हमें उपलब्ध है किंतु कदाचित् कहीं भी उसमें ऐसी किसी घटना की ओर संकेत भी नहीं मिलता । अतः यहाँ भी ‘मूल गोसाईंचरित’ का उल्लेख भ्रमपूर्ण ज्ञात होता है ।

टोडरके उत्तराधिकारी

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि थीर ।

पूरन आयू पाइ कै, टोडर तजै सरौर ॥ ८७ ॥

पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर ।

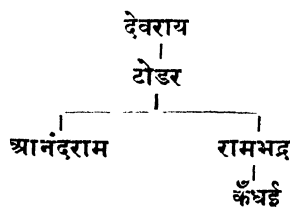
युग मृत टोडर बीच मुनि, बाटि दिये घरबार ॥ ८९ ॥

जिससे यह स्पष्ट आशय निकलता है कि टोडरके घरबारका बँटवारा उनके दो लड़कोंके बीच हुआ ।

वह पंचनामा जिसमें बँटवारा सविस्तर अंकित किया गया था सौभाग्यवश अबतक है, किंतु उसमें दोनों पक्षों का नाम इसप्रकार आया है—

“आनंदराम बिन टोडर, बिन देवराय, व कंधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर—”

अर्थात्



^१ ‘मूल गोसाईंचरित,’ दो० ७८, ७९

^२ ‘गोस्वामी तुलसीदास,’ पृ० १३५-३९

इसप्रकार यह नितांत स्पष्ट है कि बँटवारा आनंदराम और कंधईके बीच हुआ जो भाई-भाई नहीं बरन् चचा-भतीजे थे। आनंदराम टोडरका पुत्र अवश्य था किंतु कंधई टोडरका पौत्र था। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण है।

रहीम तथा उनके 'बरवै' की रचना

१६६६ वि० की घटनाओंका उल्लेख करते हुए वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—कवि रहीम बरवै रचै, पठये मुनिवर पास।

लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना कियेउ प्रकास ॥ १३ ॥

जिससे यह ज्ञात होता है कि रहीमने 'बरवै' १६६६ वि० में रचकर गोसाईंजीके पास भेजा।

रहीमने बरवै छंदमें एक 'नायिकाभेद' की तथा कुछ स्फुट रचनाकी है किंतु अभीतक इन रचनाओंका समय नहीं निर्धारित हो सका है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इनकी रचना १६२१-२४ वि० के लगभग की गई होगी।

रहीमके जीवनका सबसे सहस्रपूर्ण वर्ष कदाचित् संवत् १६२७ है। १६२७ वि० के प्रसिद्ध अहमदनगरके पतनके साथ ही रहामके भाग्यचक्रने भी पलटा खाया। यद्यपि विजय अधिकांशमें रहीमके प्रयत्नोंसे हुई कही जाती है, और कहा जाता है कि इन्होंने इसके उपलक्ष में ७५ लाख रुपए भी लुटा डाले, किंतु यश इन्हें न मिलकर राजकुमार मुरादको मिला। इन्हीं दिनों इनकी स्त्रीका भी देहांत हो गया। जहाँगीरके राजत्वकालमें इन्हें और भी दुःख रहा। आँखोंके सामने ही दो जवान पुत्रोंने परमधामकी यात्रा की। अपनी पौत्रीसे शाहजहाँका विवाह करनेके कारण उत्तराधिकारके झगड़ों में इन्हें स्वभावतः भाग लेना पड़ा और फलतः नूरजहाँकी क्रूरनीतिका लक्ष्य भी बनना ही पड़ा। इसप्रकार हम देखते हैं कि रहीमके जीवनके अंतिम ३० वर्ष विपत्तियोंके थे—उनका देहांत १६८६ वि० में हुआ। ऐसी दशामें यह असंभव-सा ज्ञात होता है कि १६२७ वि० से लेकर १६८६ वि० के बीच किसी समय 'बरवै' की रचना हुई हो—'बरवै' की सरसता और भी इसीका समर्थन करती है। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी कम भ्रमपूर्ण नहीं लगता।

किसी निर्धारित काल-क्रमकी शुद्धताकी परीक्षाका सब से उत्तम उपाय कदाचित् यह है, कि उसी क्रमसे रचनाओंकी प्रौढ़तापर अलग-अलग विचार करते हुए यह देखा जावे कि उसके अनुसार कविकी प्रतिभामें कोई विकासोन्मुख प्रगति परिलक्षित होती है या नहीं। प्रस्तुत निबंधके अंतिम अंशमें इसी दृष्टिकोणसे कविकी कुल रचनाओं पर एक व्यापक दृष्टि डाली जायगी, किंतु वह संचेपमें होगी क्योंकि प्रगतिको एक अटूट धारणा निर्मित करनेमें विस्तार कदाचित् बाधक हो सकता है।

रामललानहछू

‘रामललानहछू’ में वर्णित नहछूके विषयमें अभीतक विद्वानोंके दो मत हैं—

(क) नहछू यज्ञोपवीतके अवसरका है और अयोध्यामें हुआ, और

(ख) नहछू विवाहके अवसरका है और मिथिलामें हुआ।

किंतु ये दोनों ही मत अंतिम-पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि ‘रामललानहछू’का नहछू विवाहके अवसरका है और अयोध्यामें हुआ। ‘रामललानहछू’में रामके लिए स्पष्ट ‘दूलह’ तथा ‘वर’ शब्दोंका प्रयोग हुआ है—

गोद लिए कौसल्या बैठी रामहिं वर हो।

सोभित दूलह राम सीस पर आंचर हो ॥ ९ ॥

आनंद हिय न समाइ देखि रामहिं वर हो ॥ १० ॥

दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो ॥ ११ ॥

इसके अतिरिक्त, ग्रंथमें वर्णित लोकाचार ‘मायन’ भी विवाहका ही है—

बनि भनि आवत नारि जानि गृह मायन हो ॥ ५ ॥

दरजनि गोरे गात लिहै कर जोरा हो ॥ ६ ॥

मोचिनि बदन सकोचिनि हीरा मोंगनि हो।

पनहि लिहै कर सोभित सुंदर आँगन हो ॥

बतियाक सुघर मलिनिया सुंदर गातहि हो।

कनक रतन मनि मोर लिहै मुसुकातहि हो ॥ ७ ॥

नैन बिसाल नउनिया भौ चमकावइ हो।

देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥

गावहि सब रनिवास देहिं प्रभु गारी हो।

रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो ॥ १८ ॥

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह नितांत स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-पूर्व ‘मायन’का दिन है, दरजिन दूलहके लिए जोड़ा (जामा), मोचिन पनही तथा माबिन

मौर लाती है, नाउन रनिवासको तथा रनिवास रानको 'गारी' देते हैं। जिन्हें वैवाहिक लोकाचारों और यज्ञोपवीतकी रीतियोंका थोड़ा भी ज्ञान है—जिसके लिए प्रत्येक पाठकसे आशा की जाती है—वे इस संबंधमें तनिक भी संदेहमें नहीं पड़ सकते।

फिरभी प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी^१ तथा सर जार्ज ग्रियर्सन^२ आदि विद्वानोंको प्रथम मतका समर्थन कदाचित् इसलिए करना पड़ा है कि विवाहके अवसर पर राम पहिले ही से मिथिलामें थे। अन्य लेखकोंने दूसरे मतका समर्थन किया है, किंतु यह भी उतना ही आतिपूर्ण है, क्योंकि 'रामललानहछू' में यह स्पष्ट कहा गया है, कि यह नहछू अयोध्यामें और दशरथ-के घर हुआ—

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथके गृह हो ॥ १ ॥

आजु अवधपुर आनंद नहछू रामक हो ॥ १२ ॥

अतएव, उपर्युक्त दोनों ही मत ठीक नहीं हैं।

अभीतक राम-कथाके जो उद्गम-स्थान ज्ञात हैं उनमेंसे किसीसे भी यह ज्ञात नहीं होता कि राम धनुष तोड़नेके पीछे मिथिलासे अयोध्या आए, यहाँ वे किसी वैवाहिक लोकाचारमें सम्मिलित हुए, और तदुपरांत पुनः मिथिला जाकर उन्होंने विवाह किया। अतएव, इसे गोस्वामीजीकी एक बहुत बड़ी भूल माननी चाहिए—इतनी बड़ी जितनी उनके ग्रंथावली भरमें अन्यत्र नहीं है। 'रामललानहछू' को गोसाईंजीकी कृति मान लेने मात्रसे यह अनिवार्य नहीं है कि इतनी बड़ी और स्पष्ट भूलोंकी ओरसे आँख मूँद ली जाय।

'रामललानहछू' में ऐसी ही एक दूसरी भूल भी है। एक छंदमें कहा गया है कि कौशल्याकी 'जेठि' ने यह 'अनुशासन' दिया कि वे सिंहासनपर बैठकर नहछू करावें—

कौसल्या की जेठि दीन अनुशासन हो।

नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो ॥ ९ ॥

इस प्रकार, 'रामललानहछू'के अनुसार कौशल्याकी कोई 'जेठि' (पति की ज्येष्ठा आतृ-बधू) भी थीं जिनके 'अनुशासन' से वे नहछू कराने लगीं। क्या यह भी ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्य है? जहाँतक लेखकका ध्यान है यह उल्लेख कहीं नहीं हुआ है कि कोई ऐसी 'जेठि' थीं। पटरानियोंमें भी उनका आसन सर्वोपरि था।

^१ 'तुलसी-ग्रंथावली', तीसरा खंड, पृ० ६३

^२ 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० १९७

तब यह सौभाग्यवती कौन थी जिसका 'अनुशासन'—'अनुमति', 'सहमति' आदि भी नहीं—कौशलश्याको नहछू करानेके लिए हुआ ?

'रामललानहछू' में प्रबंध-दोष भी साधारण मात्रामें नहीं है। इतने छोटे आकारके प्रबंध-काव्यमें एक प्रबंध-त्रुटि तो स्पष्ट है—

कटिकै छीन बरिनिया छाता पानिहि हो।

चंद्रवदन मृगलोचनि सब रसखानिहि हो।

नैन बिसाल नउनिया भौ चमकावइ हो।

देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥

इतने वर्णनके अनुसार नाउन भी बारिन आदिके साथ वहाँ उपस्थित थी और 'गारी' देती तथा गाती थी। किंतु, आगे ही चलकर वह बुलाई जाती है—

नाउन अति गुनखानि तो बेगि बोलाई हो।

करि सिंगार अति लोन तो विहसन आई हो।

कनक चुनिन सो लसन नहरनी लिहै कर हो।

आनँद हिय न समाइ देखि रामनि पर हो ॥ १० ॥

अर्थात् 'नाइन शीघ्र बुलाई गई, वह खूब सज्जजकर हँसती हुई आई, सुंदर नहरनी उसके हाथमें थी और रामको दूसरे वेशमें देखकर उसे अपार हर्ष हुआ।' इसप्रकार, इस पिछले उद्धरणसे जान पड़ता है कि वह पहलोगे वहाँ उपस्थित नहीं थी, क्योंकि अन्यथा उसके 'घेनि' बुलाए जाने और 'करि सिंगार अति लोन' आनेका कोई कारण नहीं था।

एक दूसरे स्थानपर फिर एक प्रबंध-त्रुटि है—

काहे रामजिउ सावर लखिमन गोर हो।

कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो ॥ १२ ॥

तक नाइनका जो परिहास है वह ठीक है—जो प्रत्येक सहृदय समझ सकता है— किंतु यही आगे चलकर उसी पदमें नितांत अयमपूर्ण होगया है—

राम अहहि दूसरथ के लखिमन आनक हो।

भरत सनुघन भाइ तो श्रीरघुनाथक हो ॥ १२ ॥

जब एकबार यह जाना जाता है कि कौशल्याको ही धोखा हुआ तो उसी के आगे यह कैसे कहा जा रहा है कि राम दशरथके हैं और लक्ष्मण दूसरेके हैं ? फिर, शरीरके वर्णके आधारपर भरत और शत्रुघ्न किस प्रकार भाई कहे जा सकते थे ? भरत और राम एक 'अनुहारि' के थे, किंतु शत्रुघ्न तो लक्ष्मणकी 'अनुहारि' के थे। परिहासकी भूलें और अधिक स्पष्ट करना कदाचित् शिष्टताके विरुद्ध होगा, अतएव हमें इतनेसे ही संतुष्ट होना पड़ेगा।

‘रामललानहछू’ में एक और बड़ी विचित्रता है जिसकी तुलनाके लिए गोस्वामीजीकी ग्रंथावलीमें उदाहरण मिलना असंभव है, वह है उस के ठेठ शृङ्गाररस-मय होने की—परकीया-रति भी नहीं छूटने पाई है। दशरथ ऐसा प्रसिद्ध धर्म-भीरु और सत्यनिष्ठ राजा एक साधारण अहिरिनके यौवनपर मुग्ध हो जाता है—

अहिरिनि हाथ दहेड़ि सगुन लै आवइ हो ।

उनरत जोवनु देखि नृपति मन भावइ हो ॥ ५ ॥

इसीप्रकार,

रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो ।

जाकी ओर निहारहि मन तेहि साथहि हो ॥ ६ ॥

अर्थात् ‘तँबोलिन सुंदरी जिसकी ओर देखती है उसीका मन उसके साथ हो जाता है।’ और,

कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो ।

चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो ॥ ७ ॥

नैन बिसाल नउनिर्या भौ चमकावइ हो ।

देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥

इन सब स्थलों पर कविने सौंदर्य-वर्णन तथा रूप-निरूपणकी भावनाका जो दुरुपयोग किया है वह तो तुलसी-ग्रंथावलीमें अन्यत्र अप्राप्य है।

अतएव, इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों, प्रबंध-दोषों, तथा ‘ठेठ’ शृंगार-पूर्ण वर्णनोंसे तो यही कल्पना होती है कि ‘रामललानहछू’ का कर्ता ‘मानस’, ‘गीतावली’, ‘विनय’ और ‘कवितावली’ का स्वनामधन्य रचयिता नहीं है। किंतु रचनामें तुलसीदास नाम आनेसे, वेणीमाधवदास-द्वारा ‘मूल गोसाई-चरित’ में उसके गोस्वामीजीकृत कहे जानेसे, और पं० रामगुलाम द्विवेदीके प्रमाणपर उसके ‘तुलसी-ग्रंथावली’ (ना० प्र० सं० सं०) में संमिलित किए जानेसे यह कहना सरल नहीं है कि ‘रामललानहछू’ गोस्वामीजीकी रचना नहीं है। फिरभी, यदि यह गोस्वामीजीकी रचना है तो निस्संदेह उनकी प्राथमिक कृति है; मध्यकालीन रचनाओंमें तो संमिलित की ही नहीं जा सकती, और अंतिम रचनाओंमें इसे स्थान देना कल्पनातीत होगा। किंतु, वेणीमाधवदासने ‘मूल गोसाई-चरित’ में इसे उनकी अंतिम रचनाओंमें रक्खा है और इसका निर्माणकाल सं० १६६६ वि० माना है—जिस वर्षके पश्चात् गोस्वामीजीने

१ बाबू श्यामसुंदरदास ‘गोस्वामी तुलसीदास’, पृष्ठ ९४ पर लिखते हैं—“पार्वती-मंगल जानकीमंगल तथा रामललानहछू एक ही समयके लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं।

कोई नवीन रचना, 'मूल गोसाई-चरित' के अनुसार, नहीं की। यदि और सब बातें जाने दी जायँ तो भी क्या कोई यह अनुमान कर सकता है कि ११५ वर्षका जरा-जर्जर महात्मा (क्योंकि वेणीमाधवदासके अनुसार गोस्वामीजीका जन्म सं० १५५४ में हुआ था) ऐसी 'ठेठ' शृंगार-पूर्ण रचनामें प्रवृत्त हुआ होगा ? 'रामललानहछू' तो गोस्वामीजीका बालप्रयास-सा लगता है। यदि यह वस्तुतः गोस्वामीजीकी कृति है तो कदाचित् इसकी रचना 'मानस' से लगभग २० वर्ष पूर्व हुई होगी।

'रामललानहछू' की रचना दोनों 'मंगलों' के साथ मानते हुए बाबू श्याम-सुंदरदास तथा श्री पीतांबरदत्त वड्डवाल लिखते हैं—

“गोसाईजीने इसे वास्तवमें विवाहके समयके गंदे नहछुओंके स्थानपर गानेके लिए बनाया है। उनका मतलब राम-विवाह ही से है। कथा-प्रसंगके पूर्वापर-संबंधकी रक्षाका ध्यान इसीलिए उसमें नहीं किया गया है।”^१

क्या यह समाधान ठीक है ? प्रश्न यह है कि क्या 'जानकीमंगल' में 'उनका मतलब राम-विवाह ही से' नहीं था ? उसमें क्यों कथा-प्रसंगके पूर्वा-इनकी शैली और भाषा एकही प्रकारकी है।.....वेणीमाधवदासके अनुसार इनकी रचना मिथिलामें हुई—

मिथिलामें रचना किये, नहछू मंगल दोय।

पुनि प्रांचे मंत्रित किये, सुख पावैं सब लोय ॥

इन ग्रंथोंका उल्लेख मूल-चरितमें सं० १६६९ की घटनाओंके साथ किया गया है। परंतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोसाईजीने इनकी रचना की। यहाँ उनकी पहली यात्रासेही वेणीमाधवदासका तात्पर्य है। सं० १६६९ में तो गोस्वामीजीने उन्हें केवल अभिमंत्रित किया जिससे वे विवाहादिके अवसरपर गाये जाकर मंगलकारी सिद्ध हों। सं० १६७० के आरंभमें गोसाईजी इतने दुर्बल हो गए थे कि जब पहलेके बनेहुए छोट-छोटे ग्रंथोंका फिर से संशोधन किया तो उन्हें दूसरोंसे लिखवाना पड़ा। ऐसी अवस्थामें यह समझना कि उन्होंने इससे थोड़े ही समय पहले मिथिला-यात्रा की हो, यह संभाव्य नहीं जान पड़ता। वास्तवमें उस समय गोसाईजी अखंड काशीवास कर रहे थे। पहली मिथिला-यात्रा गोसाईजीने सं० १६४० से पहिले की थी। १६४० में वे मिथिलासे काशी लौट आए थे। इससे मूल-चरितके अनुसार इन तीनों ग्रंथों का रचना-काल सं० १६३९ के लगभग ठहरता है।”

सं० १६३९ की मिथिला-यात्राके प्रसंगमें 'नहछू' या किसी भी रचनाकी ओर कोई संकेत भी नहीं किया गया है। यदि हम बाबूसाहबका अर्थ मान लें, तो भी क्या 'रामललानहछू' को हम 'रामचरितमानस' से १८ वर्ष पीछेकी रचना मान सकते हैं ? वेणीमाधवदासके अनुसार ही सं० १६३९ के लगभग 'विनयपत्रिका' की भी रचना हुई (मू० गो० च० दो० ५१) दोनों रचनाओंके भाव तथा भाषा-शैली आदि में कितना अंतर है ! क्या हम यह मान सकते हैं कि 'रामललानहछू' 'विनयपत्रिका' के साथकी रचना है ?

१ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ९६

पर-संबंधकी रक्षाका ध्यान रक्खा गया है ? इसके अतिरिक्त, दोनोंकी रचना बाबू-साहब 'पार्वतीमंगल' के साथकी ही मानते हैं ?^१ किंतु, क्या 'रामललानहछू' अन्य दोनोंकी सुरुचिके दशमांशका भी परिचय देता है ?

जानकीमंगल

'जानकीमंगल' का नाम 'पार्वतीमंगल' के साथ लिया जाता है । सं० १६६६ की रचनाओंका उल्लेख करते हुए वेणीमाधवदासने लिखा है—

मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय ॥ ९४ ॥

और आधुनिक विद्वान् भी 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल सं० १६४३ मानते हुए 'जानकीमंगल' का प्रणयन उसीके लगभग हुआ मानते हैं । किंतु, 'जानकीमंगल' सं० १६४३ या उसके आसपासकी रचना नहीं हो सकती । अन्तर्साक्ष्यके आधार पर हमें उसे 'रामचरितमानस' से पूर्वकी रचना मानना पड़ेगा ।

'जानकीमंगल' का विषय है सिय-रघुवीर-विवाह—

सियरघुवीर विवाह जथामांत गावौ ॥ २ ॥

ग्रंथ सीताके जन्म और कौमार्यका अति संक्षिप्त परिचय देते हुए स्वयंवरके वर्णनसे प्रारंभ होता है । जनकने शिवधनुको भंग करनेवालेके साथ सीताके पाणिग्रहणकी घोषणा प्रकाशित कर दी है, और धनुष-यज्ञके लिए अत्यंत सुंदर रंगभूमिकी रचना कराई है । देश-देशांतरके राजाओंके पास संदेश भेज दिया गया है और वे एक-एक करके आने लगे हैं ।^२ वे सब रूप, शील, बल आदिमें इतने श्रेष्ठ हैं मानों पुरंदरका एक दल ही उतर आया है । 'दानव, देव, निसाचर, किन्नर, अहिगन' सभी नृप-वेशमें प्रमुदित हो चल पड़े हैं ।^३ चारोंओर गान-वाद्यादिका बड़ा कोलाहल है—'भला सीताके विवाहके उत्साहका कौन वर्णन कर सकता है ?'^४

गाधिनुवन तेहि अवसर अवध सिधायउ ॥ १६ ॥

अर्थात् 'उसी समय विरवाभिन्न राम-लक्ष्मणके लिए अयोध्या गए ।' 'जानकी-मंगल' को छोड़कर कथाका यह क्रम 'रामाज्ञा' के अतिरिक्त गोस्वामीजी के अन्य किसी ग्रंथमें नहीं है । 'रामाज्ञा' में भी राम-विवाह दो स्थानोंपर वर्णित है,^५ किंतु यह क्रम दूसरे स्थानपर है, पहलेपर नहीं । 'रामाज्ञा'में दो स्थानोंपर

^१ 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९४-९५

^२ 'जानकीमंगल', ९

^३ वही, १० और ११

^४ वही, १५

^५ 'रामाज्ञा'—प्रथम सर्ग सप्तक ४, ५, और ६; तथा चतुर्थ सर्ग सप्तक ५, ६, और ७

विवाहका वर्णन करते हुए दो क्रमोंका होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं किंतु, 'रामाज्ञा' के अतिरिक्त 'जानकीमंगल' का यह क्रम अन्य ग्रंथोंमें नहीं रक्खा गया है। यह तथ्य इस बातकी ओर संकेत करता है कि 'जानकीमंगल' की रचना न केवल 'मानस' से पूर्व हुई वरन् 'रामाज्ञा' से भी, और 'रामाज्ञा' की रचना कदाचित् दोनोंकी मध्यवर्तिनी है, क्योंकि उसमें एक ओर 'जानकीमंगल' तथा दूसरी ओर 'मानस' एवं 'मानस' के परवर्ती ग्रंथोंके दोनों क्रम दो विभिन्न स्थानोंपर रखे गए हैं।

इसके अतिरिक्त, 'जानकीमंगल' में वह फुलवारी-लीला भी नहीं है जो 'मानस' में एक विशेष स्थान रखती है। 'जानकीमंगल' में रंगभूमिमें ही सीता और राम यकायक एक-दूसरेको देखते हैं। स्वयंवरमें बड़े-बड़े राजा उपस्थित हैं, नगरके नर-नारी भी दर्शक हैं, वे आपसमें राम-लक्ष्मणके विषयमें चर्चा कर रहे हैं। इसी समय—

जनक आयसु पाइ कुलगुरु जानकिहि लै आयऊ ।

सिय रूपरासि निहारि लोचन नाइ लोगन्दि पायऊ ॥ ९० ॥

.....

राम दाख जब सीय सीय खुनायक । दाउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक ॥ ९४ ॥

प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं । जनु हिरदय गुन ग्रामश्रुनि थिर रोपहिं ॥ ९५ ॥

इसीप्रकार, 'जानकीमंगल' में 'मानस', 'गीतावली', तथा 'कवितावली' आदिमें उल्लिखित जनकका वह निराश-वचन भी नहीं है जो उन्होंने राजाओंके असफल होनेपर कहा था, और न उसका वह उत्तर ही है जिसे लक्ष्मणमें बड़ी ओजपूर्ण भाषामें दिया था। 'मानस' में, लक्ष्मणके सरोप उत्तरका आतंक चारोंओर छा गया और जनक सकुचाए। रामने यह देख इंगितसे लक्ष्मणको चुपचाप अपने पास बैठा लिया। इस समय विश्वामित्रने उपयुक्त अवसर देखकर रामसे कहा 'राम ! उठो, शिव-धनुका भंजनकर जनकके परितापका शमन करो।' गुरुका ऐसा आदेश पा राम स्वाभाविक रीतिसे उठे, न हर्ष था न विषाद, और रंगमंचपर बाल-सूर्यके समान शोभित हुए।^१ जनककी निराशा और धनुर्भंगके बीचका यही प्रसंग 'जानकीमंगल' में एक दूसरे प्रकारसे यों है—

देखि सपुर परिवार जनक हिय हारेउ । नृपसमाज जनु तुहिन बनज बन मारेउ ॥ १०० ॥

कौंसिक जनकहिं कहेउ देहु अनुसासनु । देखि भानुकुल भानु इसानु-सरानु ॥ १०१ ॥

विश्वामित्रके इस प्रस्तावपर जनकने कहा कि यह अनुचित है—

१ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण) बाल०, दो० २५४

मुनिवर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहि । तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहि ॥ १०२ ॥
 बानु बानु जिमि गयउ, गवहिँ दसकंधरु । को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु ॥ १०३ ॥
 पारवती मन सरिस अचल धनु चालक । हहिँ पुरारि तेउ एकनारित्रत पालक ॥ १०४ ॥
 सो धनु कहि अवलोकन भूपकिसोरहिँ । भेदकि सिरिस सुमन कन कुलिस कठोरहिँ ॥ १०५ ॥
 रोम रोम छवि निंदति सोम मनोजनि । देखिय मूरति मलिन करिय मुनि सो जनि ॥ १०६ ॥

यही क्या कम था कि विश्वामित्रने जनक से रामको धनुष दिखानेका प्रस्ताव किया ? फिरभी जनकने उनकी बात उलट दी ! जनकके ऐसे अनभिज्ञतापूर्ण वचन सुनकर विश्वामित्र हँसे, और उन्होंने कहा—

मुनि हँसि कहेउ जनक यह मूरति सो हइ । मुमिरत सकल मोह मल सकल बिछोइइ ॥ १०७ ॥
 सब मल बिछोहनि जानि मूरति जनक कौतुक देखहू ।
 धनु सिंधु नृप बल जल बढ़यो रघुबरहिँ कुंभज लेखहू ॥ १०८ ॥

ऐसा सुनकर जनक असमंजसमें पड़ गए और राम हर्ष-विपाद-रहित हो धनुर्भंगके लिए चले—

सुनि सकुचि सोचहिँ जनक गुरु पद बंदि रघुनंदन चले ।
 नहिँ हृदय हरष विषाद कछु भए सगुन सुभ मंगल भले ॥ १०९ ॥

किंतु एक बहुत ही बड़ा अंतर परशुराम-गर्वहरण प्रसंगके संबंध में है । ‘मानस’ तथा ‘कवितावली’ में परशुराम स्वयंवरसभामें ही धनुर्भंगके पीछे उपस्थित होते हैं और वहाँ लक्ष्मणसे उनका बड़ा व्यंग्यपूर्ण वाद-विवाद भी होता है । किंतु, ‘जानकीमंगल’ में यह नाटकीय प्रसंग नहीं आता, और लक्ष्मणका उनसे कोई वाद-विवाद नहीं होता—

तब कीन्ह कोसलपति पयान निसान बाजे गहगहे ॥ ११० ॥
 पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए । डाटहिँ आखि दिखाइकोप दारुन किए ॥ १११ ॥
 कीन्ह राम परितोष रोष रिसि परिहरि । चले सौपि सारंग सुफल लोचन करि ॥ ११२ ॥

इसप्रकार, ‘मानस’ से ‘जानकीमंगल’ मुख्यतया फुलवारी-लीला, जनकके निराश-वचन, लक्ष्मणके दर्पपूर्ण उत्तर, सभामें ही परशुराम-गर्व-हरणके अभाव-में भेद रखता है । ‘मानस’ में फुलवारीलीला तथा जनकके निराश-वचन ‘प्रसन्न-राघव’ से, लक्ष्मणका उत्तर ‘हनुमान्नाटक’ से, तथा परशुरामका सभामें गर्वहरण पुनः ‘प्रसन्नराघव’ से लिए गए हैं । फलतः यह स्पष्ट होजाता है कि ‘जानकीमंगल’ की रचना ‘मानस’ से पूर्व हुई, क्योंकि ‘मानस’ में तो ये प्रसंग हैं ही, ‘गीतावली’ तथा ‘कवितावली’ में भी हैं जिनकी रचना ‘मानस’ से पीछे की है ।

इस बातकी पुष्टि एक प्रकारसे और होती है—वह है ‘जानकीमंगल’ में शृंगार-रसके रूपसे । ‘नहछू’ का शृंगार ‘ठेठ’ शृंगार है, और ‘मानस’ का पवित्र तथा

सौम्य शृंगार है। किंतु 'जानकीमंगल' का शृंगार दोनोंका मध्यवर्ती है। सीताके स्वाभाविक दृष्टिपात का वर्णन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार किया गया है—

रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारि । नील कमल सर श्रेणि मयन जनु दारइ ॥ ९२ ॥

अर्थात् 'सीता जिस ओर स्वाभाविक रीतिसे भी देखती हैं उधर मानो कामदेव नील कमल-शरीरकी वर्षा करता है।'।

राम-सीताका परस्पर-दर्शन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार है—

राम दीख जब सीय सीय रघुनायक । दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक ॥ ९४ ॥

यहाँ भी परस्पर-दर्शनमें कामदेव दोनों व्यक्तियोंको व्यथित कर रहा है।

जयमाल पहिवानेमें भी इसीप्रकार, कविको 'कामफंद' की कल्पना सूझती है—

लसत ललित कर कमल माल पहिरावत । कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत ॥ १२२ ॥

भावचेत्रमें कामदेवका इसप्रकार उलझ पड़ना 'रामललानहछू' तथा 'जानकी-मंगल' के अतिरिक्त राम और सीताके चरित्रके संबंधमें तुलसी-ग्रंथावलीमें अन्यत्र नहीं मिलता है, यद्यपि रूप-वर्णनके चेत्रमें सौंदर्यके आदर्शकी भाँति निस्संदेह वह अनेक स्थलोंपर व्यवहृत हुआ है।

अतएव, 'जानकीमंगल' 'मानस' से पूर्वकी रचना है यह धारणा दृढ़ हो जाती है, किंतु, 'मानस' से कदाचित् दस वर्षसे अधिक पूर्वकी नहीं, क्योंकि 'रामललानहछू' के—जिसका रचना-काल हम आगे 'मानस' से लगभग २० वर्ष पूर्व मान आए हैं—एक भी दोष इस ग्रंथमें नहीं है और उसकी अपेक्षा इसकी शैलीमें यथेष्ट प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है और इसका प्रमुख छंद सोहर होते हुए भी हरिगीतिकाके सम्मिलित कर लेनेसे साहित्यिक प्रयोगके उपयुक्त बन गया है। 'जानकीमंगल' की कथा 'रामाज्ञा' की कथाके बहुत निकट है, और 'रामाज्ञा' 'मानस' से थोड़े ही पूर्वकी रचना है, यह हमें आगे ज्ञात होगा, फलतः सं० १६६१ अथवा सं० १६४३ अथवा सं० १६३१ को भी इसका रचना-काल नहीं माना जा सकता, यह कदाचित् स्थष्ट है। अतः 'जानकीमंगल' का रचना-काल अनुमानसे सं० १६२१ लगभग के ठहरता है।

रामाज्ञा

सर जार्ज ग्रियर्सनने लिखा है^१, 'छकनलाल कहते हैं कि १८२७ ई० में उन्होंने 'रामाज्ञा'की एक प्रतिलिपि मूल प्रतिसे की थी जो कविके हाथकी लिखी

^१ 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृष्ठ ९६। फुटनोट में वे छकनलालके शब्द देते हैं, "श्री संवत् १६५५जेठ सुदी १० रविवारकी लिखी पुस्तक श्रीगोसाईंजीके हस्तकमलकी प्रह्लादघाट श्रीकाशीजी में रही। उस पुस्तकपर से श्रीपंडितरामगुलामजीके सत्संगी छकनलाल कायस्थ रामायणी मिरज़ापुरवासीने अपने हाथसे सं० १८८४ में लिखाया।"

थी और जिसकी तिथि कविने स्वयं सं० १६२५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी ।^१ अन्यत्र 'रामाज्ञा' की वह प्रति गोस्वामीजीके हाथ की, नरकुलकी लिखी थी और प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (लगभग सन् १८६३ ई०) तक विद्यमान थी ।^२

'मूल गोसाईचरित' में वेणीमाधवदासने 'रामाज्ञा' की रचना सं० १६६६ में होने का उल्लेख किया है^३ किंतु यदि उपर्युक्त साक्ष्य सत्य माना जाय- कमसे कम उक्त प्रतिपर लिखी तिथि तो सत्य माननी ही पड़ेगी—तो सं० १६६६ उसकी रचना-तिथि नहीं हो सकती । अब प्रश्न यह है कि सं० १६२५ ही 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि मानी जाय या उससे पूर्वकी कोई तिथि ।

उपरके साक्ष्यमें छकनलालका कथन है कि वह प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी थी, किंतु इस विषय में संदेह होना कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि उनकी यह धारणा जन-श्रुतिके आधारपर ही रही होगी और जन-श्रुति कमसे कम ऐसे विषयोंमें बड़ी कठिनातासे प्रमाण मानी जा सकती है । कुछ वर्ष पूर्व अनेक प्रतियाँ गोस्वामीजीके हाथकी लिखी मानी जाती थीं, किंतु आज दो-एक को छोड़ अन्योंने विषयमें विद्वानोंकी धारणा है कि वे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी नहीं हैं । यदि यह माना भी जाय कि वह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी थी तो क्या उसके साथ यह भी मानना अनिवार्य होगा कि वही प्रथम मूल-प्रति थी ? अधिक संभावना तो इस बातकी है कि वह एक प्रतिलिपि-मात्र थी, चाहे वह किसीके हाथकी लिखी हुई रही हो ।

सर जार्ज ग्रियर्सनने अन्य तिथियोंके साथ 'रामाज्ञा' की तिथिके विषयमें लिखते हुए यद्यपि सं० १६२५ को उसकी रचना-तिथि मान लिया है किंतु उन्हें यह खटका अवश्य था कि यह प्रतिलिपि-तिथि भी हो सकती है । इसलिए उन्होंने तिथियोंके संबंध में अपने अनुसंधानका निष्कर्ष लिखते हुए इसप्रकार लिखा है^४—

'रामाज्ञा' की रचना-तिथि (या प्रतिलिपि-तिथि ?) रविवार जून ४, सन् १५६८ ई० ।

मिश्रबन्धुओंने लिखा है,^५ 'रामाज्ञाके विषयमें कुछ संदेह बाक़ी है । कारण कुछ लोगोंके कथनानुसार छकनलालको 'रामाज्ञा' नहीं, 'रामशलाका' की प्रति

^१ इंडियन ऐंटिक्वेरी' १८९३ ई०, पृ० १९७

^२ 'मूल गोसाईचरित' दो०, ९५

^३ 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९८

^४ 'हिंदी-नवरत्न', पृ० ७८

मिली थी ।”^१ किंतु ग्रियर्सन साहबको खोजके विषयमें संदेह करना कदाचित् अनुचित होगा ।

इस प्रकार, सं० १६२५ ‘रामाज्ञा’ की रचना-तिथिकी एक सीमा अवश्य है, किंतु उससे कितने पूर्व उसकी रचना-तिथि रखी जा सकती है यह ऊपरके साक्ष्यसे अनिश्चित है । अंतर्साक्ष्य अवश्य यह सिद्ध कर देता है कि ‘रामाज्ञा’ ‘मानस’ से पूर्वकी रचना है ।

‘रामाज्ञा’में कथा राजा दशरथके राजन-कात्से आरंभ होती है, और प्रारंभ में ही नीचे लिखे हुए शब्दों में—

त्रिविषस बन मृगया फिरत दोन अंध सुनि साप । १-२-१ ।

—उस कथाकी ओर संकेत किया जाता है जिसे ‘मानस’ के अनुसार मरण-शय्यापर दशरथने स्वमुखसे कहा था ।

सीता-स्वयंवरकी कथा ‘रामाज्ञा’ में दो स्थानोंपर कहा गई है । पहले प्रथम सर्गमें, फिर चतुर्थ सर्गमें । प्रथम सर्गमें वह जित क्रयसे है, वह ‘मानस’ का है । चतुर्थ सर्गका क्रम ‘जानकोमंगल’ का है, और वह इस प्रकार है—

जनकनंदिनी जनकपुर जब ते प्रगटी आई ।

तब ते सब मुख संपदा अधिक अधिक अधिक । ४-५-१ ॥

१ बाबू शिवनंदनसाधन (‘आ गोस्वामी तुलसीदासजी’, पृ० ३५३ पर) लिखा है—‘यह जीवनी छपनेके थोड़े ही दिन पहले हमको का० ना० प्र० पत्रिका (भाग १९, संख्या १०) में रणछोड़लाल व्यासजीका एक लेख देखनेमें आया—आप अपनेको गंगाराम ज्योतिषीका वंश-भर बताते हैं, और लिखते हैं कि “गंगारामजी दो भाई थे । दूसरेका नाम दीलतराम था । उनके वंशजोंमें पंडित गिरिवर व्यास हुए । (आपके पास ही ग्रियर्सन साहबने गुसाईंजीकी तसवीर देखी थी) में उनका भांजा हूँ । असलमें ‘रामाज्ञा’ नहीं किंतु ‘रामशलाका’ थी, जो रामचंद्र (मेरे बहनोईके भाई) और गंगाधर (मेरी बुआके पुत्र) के हाथसे सं० १९२०-२२ के करीब लुटेरोंने श्रीनाथजीका यात्राके समय उदयपुरक निकट लूट ली थी । उस ‘रामशलाका’की नकल मिरजापुर-निवासी पं० रामगुलामजी द्विवेदीके श्रोता छगनलालजीके पास है । तसवीर मेरे पास सुरक्षित है ।” ‘रामाज्ञा’ की रचनाके संबंधमें जो बातें ग्रियर्सन साहबने लिखी हैं, उन्हींका सारांश इन्होंने ‘रामशलाका’ के विषयमें लिखा है ।’

दोनों साक्ष्यों में बड़ा अंतर है ! किंतु ग्रियर्सन साहब तथा पं० सुधाकर द्विवेदीके कथन निश्चय ही अधिक विश्वसनीय हैं, क्योंकि उन्होंने कदाचित् छगनलालसे ही यह जांच की थी, और व्यासजीकी बातें सुनी हुई हैं । ‘रामाज्ञा’ किसी गंगारामको ही संबोधितकर लिखी गई है, यह स्पष्ट है—

सगुनप्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम ।

सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम ॥ १-७-७ ॥

यदि ये गंगाराम उपर्युक्त गंगाराम ज्योतिषी ही थे, तो उनके वंशधरोंके पास उपर्युक्त प्रतिका रहा होना बहुत संभव है ।

सीयस्वयंवर जनकपुर सुनि सुनि सकल नरेस ।

आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस ॥ ४-५-२ ॥

चले मुदित कौसिक अवध सगुन सुमंगल साथ ।

आए सुनि सनमानि गृह आने कोसलनाथ ॥ ४-५-३ ॥

यह अंश 'जानकीमंगल' वाले उसी प्रसंगके अंशसे मिलाने योग्य है। कथा का यह क्रम 'जानकीमंगल' को छोड़कर गोस्वामीजीके किसी अन्य ग्रंथमें नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'रामाज्ञा' की रचनाके समय उक्त प्रसंगके दोनो ही क्रम गोस्वामीजीके ध्यानमें थे, और उस समयतक उन्होंने यह निश्चित नहीं कर लिया था कि दोनोमें कौनसा अधिक सुंदर होगा। कदाचित् इसलिए उन्होंने 'रामाज्ञा' में एक ही प्रसंग दो सर्गोंमें रखते हुए दोनों विभिन्न कथा-क्रमोंका आश्रय लिया है। 'रामाज्ञा' इसप्रकार, 'जानकीमंगल' तथा 'मानस' की मध्यवर्तिनी रचना प्रतीत होती है।

मख-रत्ना तथा अहिल्या-उद्धारके पीछे विश्वामित्र राम और लक्ष्मणके साथ जनकपुर जाते हैं, किंतु न तो प्रथम सर्गमें और न चतुर्थमें ही किसी फुलवारी-लीलाकी कथा आती है।

'मानस' में राजाओंके असफल होनेपर जनकके जो निराशापूर्ण वचन हैं वे भी 'रामाज्ञा' में नहीं हैं, और न उन वचनोंका वह दर्पपूर्ण उत्तर ही है जो लक्ष्मणने दिया था।

'रामाज्ञा' के चतुर्थ सर्गमें परशुराम-भिलनका प्रसंग ही नहीं है। प्रथम सर्गकी कथा में अवश्य वे 'जानकीमंगल' की ही भाँति मार्गमें मिलते हैं, 'मानस' की भाँति स्वयंवर-सभामें नहीं; और इसीलिए लक्ष्मणसे उनका वह वाद-विवाद भी नहीं है जो 'मानस' में है और 'जानकीमंगल' में नहीं है। 'रामाज्ञा' का परशुराम-भिलन इस प्रकार है—

चारिउ कुंवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ ।

भए मंजु मंगल सगुन गुरु सुर संभु पसाउ ॥ १-६-३ ॥

पंथ परसुधर आगमन समय सोच सब काहु ।

राज समाज बिषाद बड़ भय बस मिटा उछाहु ॥ १-६-४ ॥

रोष कलुष लोचन भ्रुकुटि पानि परसु धनु बान ।

काल कराल विलोकि मुनि सब समाज बिलगान ॥ १-६-५ ॥

प्रभुहि सौपि सारंग पुनि दीन सुआसिरबाद ।

जय मंगल सूचक सगुन राम राम संबाद ॥ १-६-६ ॥

चित्रकूटमें जनकका आगमन 'रामाज्ञा' में नहीं होता है।

जयंतके चोंच मारनेके विषय में, 'रामाज्ञा' में 'काक-कुचालि' कहकर संकेत किया गया है।

सीताकी खोज लानेके लिए जानेपर लंकामें हनुमान और विभीषणको भेंटका भी उल्लेख 'रामाज्ञा' में नहीं है।

'रामाज्ञा' में हनुमानके समस्त सीता-रावण-संवाद तो है ही नहीं, मासुति-संदेश-निर्वहण भी 'मानस' का-सा नहीं है।

त्रिजटा-सीता-संवादमें, 'रामाज्ञा' में सीताकी अभियाचना नहीं है।

'मानस' में सेतुबंधके अवसरपर रामेश्वरकी जिस स्थापना तथा शिव-उपासनाको विशेष महत्व दिया गया है वह भी 'रामाज्ञा' में नहीं है।

'रामाज्ञा' में लक्ष्मणके शक्ति-द्वारा सृष्टित होनेकी कथा भी नहीं है।

'रामाज्ञा' में राम-राज्याभिषेकके अनंतरकी भी कथा पष्ठ सर्गके छठे तथा सातवें सप्तकोंमें संचेपमें सीता-अवनि-प्रवेश तक दी हुई है।

यहाँपर कुछ विस्तारपूर्वक 'मानस' से 'रामाज्ञा' के मुख्य-मुख्य कथा-भेदोंको दिखानेका प्रयोजन यह है कि पाठकोंको यह बात स्पष्ट हो जावे कि 'रामाज्ञा' की कथाका आधार लगभग पूर्णरूपसे 'वाल्मीकी रामायण' ही है। 'मानस' में फुलवारी-लीला तथा जनकके निराशवचन 'प्रसन्नराघव' से, लक्ष्मणका दर्पपूर्ण उत्तर 'हनुमान्नाटक' से, परशुरामका सभामें मिलन और उनका लक्ष्मणसे व्यंग्यपूर्ण वाद-विवाद पुनः 'प्रसन्नराघव' से लिए गए हैं। अतएव, यह जान पड़ता है कि 'रामाज्ञा' के रचना-कालतक गोस्वामीजी यह निश्चित न कर सके थे कि 'रामाज्ञा' की रामकथाको किन ग्रंथों से कौन से स्थल लेकर और भी सुंदर बनाया जा सकता था। फलतः, 'रामाज्ञा' की रचना 'मानस' से सात या आठ वर्ष पूर्व, अर्थात् सं० १६२३ के लगभग हुई जान पड़ती है।

वैराग्यसंदापना

'वैराग्यसंदीपिनी' का प्रथम दोहा—

राम बामदिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।

ध्यान सकल कल्याणमय सुरतरु तुलसी तोर ॥ १ ॥

'रामाज्ञा' के सातवें सर्ग के तीसरे सप्तक का सातवाँ दोहा है। इस दोहेमें 'कल्याणमय' ध्यान देने योग्य है। 'रामाज्ञा' के लगभग कुल दोहोंके दूसरे चरणमें शकुनसूचक कोई-न-कोई शब्द अवश्य रहता है, अतएव, उपर्युक्त दोहा 'रामाज्ञा' से 'वैराग्यसंदीपिनी' में लिया गया है, यह स्पष्ट है। गोस्वामीजीको

यह दोहा इतना अधिक प्रिय था कि 'वैराग्यसंदीपिनी' तथा 'दोहावली' का श्रीगणेश ही उन्होंने इस दोहेसे किया। 'सतसई' में भी इसकी कम-संख्या केवल दूसरी है।

'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहोंके अतिरिक्त सोरठों तथा चौपाइयोंका प्रयोग हुआ है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इन पीछेके दोनों छंदोंका प्रयोग गोस्वामीजी ने 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना के पूर्व नहीं किया था। सोरठे ग्रंथ भर में केवल दो ही आए हैं, और वे भी दो स्थानोंपर, पहले स्थानपर तीन-तीन और दूसरेपर पाँच-पाँच दोहोंके बीच वे प्रयुक्त हुए हैं। यह प्रयोग विश्रामके ढंगका है, और निस्संदेह प्रशंसनीय है। किंतु, चौपाइयोंका प्रयोग बड़ी बेहंगी रीतिसे हुआ है। कुल दस स्थानोंपर चौपाइयाँ आती हैं, जिनमें से सातपर चार-चार पंक्तियों के समूह हैं, दोपर आठ-आठ के, और एकपर बारह का एक समूह है। दोहोंका प्रयोग भी इसीप्रकार कम ठीक हुआ है—उनकी संख्या विभिन्न स्थानोंपर एकसे साततक है। चौपाइयाँ दोहोंसे दबो हुई हैं। इतने छोटे ग्रंथमें इस-प्रकारकी त्रुटियाँ खटकती हैं। जैसा समन्वय 'मानस' में इन्हीं छंदोंका हुआ है, वैसा 'वैराग्यसंदीपिनी' में ढूँढ़नेकी चेष्टा निस्सार होगी।

विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा' की भाँति द्वंद्व नहीं है। एक ही विषय है, और उसके प्रतिपादनकी चेष्टा है। विषयको कई भागोंमें विभाजितकर, एक संपूर्ण विचार प्रस्तुत करनेका प्रयास निस्संदेह है। रामाज्ञा की भाँति खटकनेवाला प्रबंध-दोष भी उसमें कोई नहीं है।

इसप्रकार, 'वैराग्यसंदीपिनी' छंद, विषय-प्रतिपादन और प्रबंध-पटुतामें 'रामाज्ञा' से बीस ही है। शैली भी उपयुक्त है, और रचना शिथिल नहीं है। अतएव, वह 'रामाज्ञा' के पीछेकी रचना अवश्य है, किंतु कदाचित् दो या तीन वर्षोंसे अधिकका अंतर दोनोंमें नहीं माना जा सकता। अतएव, 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना सं० १६२५ के लगभग हुई ज्ञात होती है।

वेणीमाधवदासने इसकी रचना सं० १६६६ में होने का उल्लेख किया है^१ जो स्वतः ठीक नहीं ज्ञात होता। बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्रीपीतांबरदत्त बड्धवाल का अनुमान है कि 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना 'विनयपत्रिका' के साथ हुई। वे लिखते हैं^२—

“अतएव १६३८ और १६३९ के बीच किसी समय 'विनयपत्रिका' बनी होगी। 'वैराग्यसंदीपिनी' भी इस समयका रचा हुआ ग्रंथ जान पड़ता है। उसमें

^१ 'मूल गोसाईंचरित' (नवलकिशोर प्रेस), दो० ९५

^२ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ९१

गोसाईंजी अपने मनको क्रोधादिकसे दूर रहकर शांति रखनेके लिए प्रबोधन करते दिखाई जान पड़ते हैं। बार-बार वे अपने मनको राग-द्वेषसे अलग रहने को कहते हैं और शांतिकी महिमा गाते हैं।.....तुलसीदासजीके हृदय-में राग-द्वेषकी सबसे अधिक संभावना उससमय थी जिससमय उनके 'राम-चरितमानस' के विरुद्ध काशीमें एक बवंडर-सा उठ रहा था, और पंडित लोग उनको कई प्रकार से नीचा दिखानेका प्रयत्न कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि उत्तेजनाका अवसर होनेपर भी वे उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने इस सभ्य भी अपने प्रभु को न छोड़ा —

फिरी दोहाई रामकी, मे कामादिक भाजि ।

तुलसी ज्यों रविके उदय, तुरत जात तम लाजि ॥

“इसमें तो संदेह नहीं कि 'वैराग्यसंदीपिनी' 'दोहावली' के संगृहीत होनेके पहले बनी क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी' के कई दोहे 'दोहावली' में संगृहीत हैं। इस बातकी आशंका नहीं की जासकती है कि 'दोहावली' ही से 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहे लिए गए होंगे, क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी' एक स्वतंत्र ग्रंथ है, और 'दोहावली' स्पष्ट ही एक संग्रह-ग्रंथ। 'दोहावली' का संग्रह सं० १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं हमें इसे 'विनयपत्रिका' के साथ-साथका बना माननेका कारण भी विद्यमान है। कलि-कालकी जिस कुचालके विरुद्ध रामको उद्दिष्टकर 'विनयपत्रिका' लिखी गई उसीके विरुद्ध अपने मनको दृढ़ करनेके लिए आत्मोपदेशके रूपमें 'वैराग्य-संदीपिनी' भी रची गई।”

किंतु, लेखक को यह कल्पना कुछ दूरकी-सी लगती है। कलिका 'वैराग्य-संदीपिनी' में नाम तक नहीं आया है, और शैली, विषय-प्रतिपादन तथा भाव-गांभीर्य आदिमें कहाँ 'विनयपत्रिका' और कहाँ 'वैराग्यसंदीपिनी' !

राचरितमानस

‘मानस’ का रचना-काल निर्विवाद है। ग्रंथमें ही गोस्वामीजीने उसका रचना-काल इस प्रकार दिया है^१ —

संवत सोरठले इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।

जेहि दिन रामजनम नृति गावहिँ। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिँ।

^१ ‘रामचरितमानस’ (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, दो० ३४ तथा ३५

असुर नाग खग नर मुनि देवा । आइ करहिँ खुनायक सेवा ।
जन्म महोत्सव रचहिँ सुजाना । करहिँ रामकलकीरति गाना ॥
.....

सब बिधि पुरी मनोहर जानी । सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा । सुनत नसाहिँ काम मद दंभा ।
रामचरितमानस एहि नामा । सुनत स्रवन पाइय बिस्रामा ॥

केवल नवमी कहनेसे यह अनिश्चित होता कि वह नवमी शुक्ल-पक्षकी थी अथवा कृष्ण-पक्षकी । अतएव गोस्वामीजीने राम-जन्म-दिन कहकर इसे स्पष्ट कर दिया । गणनासे यह ज्ञात हुआ है कि सं० १६३१ में चैत्र शुक्ल नवमी मंगलवारको लगी और बुधवारको भी प्रातःकाल थी ।^१ इसलिए मंगलवार तथा बुधवार कदाचित् दोनों दिन रामनवमी मानी गई होगी । गोस्वामीजीने रामनवमी मंगलवारको ही माना होगा, यह स्पष्ट है । मंगलवारको किस संप्रदाय वालोंकी नवमी रही होगी यह प्रस्तुत विषयसे बाहरकी बात है ।

‘मानस’ की समाप्ति वेणीमाधवदासने सं० १६३३ में राम-विवाहकी तिथि पर माना है—

दुइ बत्सर सातके पार परे । दिन छबिस मास सा पूर करे ।
तैंतीस को संवत और मगसर । शुभद्यौस सु रामविवाहहिँ पर ।
सुठि सप्त जहाज तयार भयो । भवसागर पार उतारन को ॥ ४१ ॥

राम-विवाह-तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी है, अतएव, ‘मूल गोसाईंचरित’ के अनुसार ‘मानस’ सं० १६३३ की उक्त तिथिको समाप्त हुआ, और इसप्रकार उसकी रचना में दो वर्ष सात मासके लगभग लगे । इस विषयपर अन्य कोई साक्ष नहीं है । यद्यपि इतने ही समयमें ‘मानस’ ऐसे बृहद् काव्य-ग्रंथकी रचना समाप्त करना गोस्वामीजी ऐसे प्रतिभा-संपन्न महाकविके लिए असंभव नहीं कहा जा सकता फिर भी यह समय कुछ छोटा प्रतीत होता है । इस तिथिकी प्रामाणिकता के विषयमें निश्चयात्मक रीतिसे इसलिए और भी नहीं कहा जा सकता कि वेणीमाधवदासने दिनका नाम स्पष्ट नहीं दिया है ।^२

^१ ‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’, १८९३ ई०, पृ० ९४

^२ ‘मूल गोसाईंचरित’ के शब्द हैं—

तैंतीसको संवत औ मगसर । शुभद्यौस सुरामविवाहहिएर ।

‘शुभद्यौस’ का अर्थ मंगलवार लगाकर बाबू श्यामसुंदरदासने (‘नागरीप्रचारिणी पत्रिका’, भाग ७, अंक ४ में) लिखा है कि यह तिथि ठीक नहीं है, क्योंकि सं० १६३३ में मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी रविवारको पड़ती है, न कि मंगलवारको । किंतु ‘शुभद्यौस’ का अर्थ रविवार ही होता हो यह संभव है, क्योंकि सं० १६६९ में लिखे हुए पंचनामेमें उसकी तिथि इस प्रकार दी हुई है—

सतसई

‘सतसई’ में उसका रचना-काल इसप्रकार दिया हुआ है—

अहि रसना (२) थन धेनु (४) रस (६) गनपति द्विज (१) गुरुवार ।

माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥ १—९ ॥

सीताकी जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला नवमी मानी जाती है, अतः ‘सतसई’ की रचना सं० १६४२, वैशाख शु० ६ को हुई माननी चाहिए । किंतु सर जार्ज ग्रियर्सनने गोस्वामीजीकी कुछ तिथियोंके विषयमें विचार करते हुए इसके संबंधमें लिखा है—“यदि यह तिथि शुद्ध है तो तुलसीदासने ‘सतसई’ की तिथिके लिखनेमें प्रचलित-संवत्-वर्षका व्यवहार किया न कि विगत-संवत्-वर्षका । पंडित सुधाकर द्विवेदी इस बातकी ओर संकेत करते हैं कि यह उस कविकी प्रणालीके विरुद्ध है, और उस दोहेकी प्रमाणिकतापर जिसमें वह तिथि आती है, सबसे अधिक संदेह उत्पन्न करता ।”^१

‘मूल गोसाईंचरित’ में वेणीमाधवदासने ‘सतसई’ का रचना-काल यों दिया है—

माधव सित सियजनम तिथि, ब्यालिस संवत बीच ।

सतसैया बरनै लगे, प्रेमवारि तैं सोंच ॥ ५६ ॥

इस दोहेकी पहिली पंक्तिका पूर्वार्द्ध ‘सतसई’ से उद्धृत उपर्युक्त दोहेकी दूसरी पंक्तिका पूर्वार्द्ध है और प्रथम पंक्तिका उत्तरार्द्ध उक्त दोहेकी पहली पंक्तिका आशय है । इसप्रकार, ‘मूल गोसाईंचरित’ भी ‘सतसई’ के दोहेकी प्रामाणिकताका समर्थन करता है । किंतु, यह भी असंभव नहीं कि ‘मूल गोसाईंचरित’ के रचयिता ने ‘सतसई’ के उपर्युक्त दोहेके आधारपर ही उसके रचना-कालका उल्लेख इसप्रकार किया हो । दोनों दोहोंकी शब्दावलीका भी एक होना इसी तथ्यकी ओर संकेत करता है ।

फिर भी, पंडित सुधाकर द्विवेदीका यह कथन कि गोस्वामीजीकी प्रणाली प्रचलित-संवत्-वर्ष न देकर विगत-संवत्-वर्ष देने की थी, विचारणीय है । गोस्वामीजीने केवल तीन ही ग्रंथोंमें उनका रचना-काल दिया है, ‘मानस’, ‘सतसई’,

‘सं० १६६९ समये कुआर सुदि तेरसि बार शुभदिने लिखितं ।’ और सर जार्ज ग्रियर्सनने ‘शुभ-दिने’ का अर्थ रविवार लेकर उक्त तिथिकी शुद्धता निश्चित की है । (‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’, १८९३ ई०, पृ० ९८) । यदि वस्तुतः ‘शुभद्यौस’ का अर्थ रविवार हो तो वेणीमाधवदासकी दो हुई ‘मानस’ की समाप्ति की तिथि कमसे कम गणनाके अनुसार अवश्य शुद्ध है ।

^१ ‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’, १८९३ ई०, पृ० ९५

और 'पार्वतीमंगल' में। 'मानस' की तिथि दोनों प्रणालियोंसे शुद्ध ठहरती है।^१ 'सतसई' का विषय सामने ही है। रहा 'पार्वतीमंगल' के विषयमें, सो उसमें गोस्वामीजीने केवल 'जय-संवत्' दिया है, जिसे कदाचित् विगत-संवत्-वर्षकी प्रणालीसे ही मानना ठीक होगा।^२

ऊपरकी तिथियोंके अतिरिक्त तीन और भी हैं जिनपर विचार किया जा सकता है—

(क) 'रामाज्ञा' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतिपर लिखी हुई तिथि—ज्येष्ठ शु० १० सं० १६५५ रविवार।

(ख) पंचादतनामावी तिथि—सं० १६६६ कुआर सु० १३ बार शुभ दिन। और,

(ग) 'वाल्मीकि रामायण' की हस्तलिखित प्रतिपर लिखी हुई तिथि—मार्गशीर्ष शु० ७ रविवार सं० १६४१।

इनमेंसे पहलीको एक प्रामाणिक साक्ष्य तभी माना जा सकता है, जब उसे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी निश्चित कर लिया जाय। दूसरी उस दशामें प्रमाण हो सकती है जब 'शुभदिने' का अर्थ रविवार सुनिश्चित हो। और, तीसरीकी गणना ही कदाचित् अभीतक नहीं की गई है। अतएव, इन तिथियों के आधारपर भी गोस्वामीजीकी तिथि देनेकी प्रणालीका दृढ़ता-पूर्वक निश्चय नहीं किया जासकता। इसप्रकार अधिकसे अधिक केवल दो विवाद-ग्रस्त उदाहरणोंके आधारपर यह मान लेना कि गोस्वामीजीकी विगत-संवत्-वर्ष देनेकी ही प्रणाली थी, कदाचित् बिल्कुल ठीक न होगा।

पार्वतीमंगल

'पार्वतीमंगल' में ग्रंथकारने उसका रचना-काल इसप्रकार दिया है—

जयसंवत् सुदि पाँचै गुरुदिन। अश्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु ॥ ५ ॥

अर्थात् '(मैंने) जयसंवत्की फाल्गुन शुक्ला पंचमी, गुरुवारको अश्विनी-नक्षत्रमें इस 'मंगल' की रचना की।' पं० सुधाकर द्विवेदीने गणना करके बताया था कि यह पूरा योग सं० १६४३ (विगत-संवत्-वर्ष) में ही पड़ता है, अतएव उक्त-

^१ 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९१

^२ इसी निबंध में आगे 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल-संबंधी विवेचन देखिए।

तिथिको 'पार्वतीमंगल' का रचना-काल मानना चाहिए ।^१ किंतु, इसके विपरीत वेणीमाधवदासने इसकी रचनाके सं० १६६१ में होनेका उल्लेख किया है,^२ जो स्पष्ट ही न केवल गणना वरन् शैलीके भी साक्ष्यसे अशुद्ध ठहरता है। 'विनयपत्रिका', 'बरवै', 'बाहुक' तथा 'कवितावली' के अंतिम अंशकी (जो निस्संदेह गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें से हैं) शैली इतनी प्रौढ़, सुगठित, तथा व्यंजना-पूर्ण है कि उनकी श्रेणीमें 'पार्वतीमंगल' को नहीं रखा जा सकता । 'पार्वतीमंगल' की शैली निश्चय ही माध्यमिक है—उसमें लालित्य पर्याप्त है, और भाषा तथा भावोंका अनुपात बराबर-बराबरका है ।

'मानस' में शिव-विवाहकी जो कथा दी हुई है, मुख्य अंशोंमें 'पार्वतीमंगल' की भी कथा वही है । दोनों रचनाएँ इतनी मिलती-जुलती हैं कि कितने ही स्थलोंपर दोनोंमें एक-ही शब्दसमूह और एक-ही वाक्य-विन्यास मिल जाता है ; फिर भी, जहाँ विभिन्नता है उसपर ध्यान देना चाहिए ।

पार्वतीके तपका वर्णन करते हुए 'मानस' में लिखा गया है^३—

संवत सहस्र मूल फल खाये । सागु षड् सप्त वर्ष गवाये ॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा । किये कठिन कछु दिन उपवासा ॥
बेलपात महि परइ मुपाई । तीनि सप्त संवत सो गवाई ॥
पुनि परिहरे मुपानेउ परना । उमहि नाम तब भणउ अपरना ॥

'पार्वतीमंगल' में पार्वती के तपका वर्णन इसप्रकार है—

नींद न भूव पियास सरिस निसि बासह ।
नयन नीर मुख नाम पुलकु लनु दिय हरू ॥ ४१ ॥
कबहुँ मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं ।
सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं ॥ ४२ ॥
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे ।
नव न धवल कल कीरति सकल भुवन भरे ॥ ४३ ॥

'मानस' के वर्णनमें व्रतोंका लंबा-चौड़ा समय दिया हुआ है, किंतु 'पार्वतीमंगल' के वर्णनमें उसका अभाव है । अत्युक्तिके इस अभावके कारण 'पार्वतीमंगल' के वर्णनमें कितना सौम्य आ गया है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

^१ 'इंडियन ऐंटिकोरी', १८९३ ई०, पृ० ५५

गणनासे फाल्गुन शु० ५, आश्विनी-नक्षत्रके योगमें गुरुवारके दिन सं० १६४३ में पड़ती है, और सं० १६४३ का फाल्गुन 'जयसंवत्' के बाहर पड़ता है । फिर भी, 'जयसंवत्' की समाप्ति सं० १६४३ में हुई कदाचित् इसलिए सं० १६४३ को भी गोस्वामीजीने 'जयसंवत्' मान लिया, जैसे किसी दिनकी तिथि वह मानी जाती है जो उस दिन में समाप्ति पाती है ।

^२ 'मूल गोसाईंचरित', दो० ९४

^३ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल० ७४

‘मानस’ में राम आकर शिवको पार्वतीके साथ विवाह कर लेनेका आदेश करते हैं, और शिव उसे किसी-न-किसी प्रकार मान लेते हैं। ‘पार्वती-मंगल’ में यह घटना नहीं है। ‘मानस’ में रामका बीचमें पड़ना कदाचित् ‘रामचरितमानस’ में इस कथाके सम्मिलित किए जानेके कारण है, अन्यथा उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं जान पड़ता है।

‘मानस’ में पार्वतीके प्रेमकी परीक्षा ससर्पियों-द्वारा कराई गई है, किंतु ‘पार्वतीमंगल’ में शिवने स्वयं बटुका वेश धारण करके परीक्षा ली है। ऐसा ज्ञात होता है कि ‘मानस’ की रचनाके पीछे कदाचित् कभी ‘कुमारसंभव’ का अध्ययन करनेपर गोस्वामीजीको यह अनुचित प्रतीत हुआ कि पार्वतीके इतने घोर तप करने पर भी उसके प्रेमकी परीक्षा शिव दूसरोंको भेज कर लें। क्या यह पार्वतीके आदर्श-प्रेम और बलिदानका अपमान न था ? अतएव, यह भेद उचित ही हुआ।

‘मानस’ में ससर्पियोंके साथ पार्वतीने खुले मुँह वाद-विवाद किया है, किंतु ‘पार्वतीमंगल’ में बटुकी बातोंका उत्तर उन्होंने सखी-द्वारा दिया है। इस प्रसंगमें सखीकी सहायता बड़ी विदग्धता-पूर्ण है। ‘मानस’ में न यह सुंदरता ही आने पाई है, और न शिष्टता ही। ‘पार्वतीमंगल’ में बटुने जब अपना कथन समाप्त किया, पार्वती कहती हैं—

आलि ! विदा कह बटुहि बेगि बड़ बरबर ॥ ६९ ॥

भइ बड़ि बेर आलि कहूँ काज सिधारिहि।

बकि जनि उठइ बहोरि। कुजुगति सर्वोरहि ॥ ७३ ॥

अर्थात् ‘आली ! बटुको शीघ्र विदा करो यह बड़ा बकवादी है।..... आली ! इसे बक-बक करते बड़ी देर हुई, अच्छा होता कि यह कहीं अपना काम देखता। मुझे भय है कि यह फिर न बक उठे और कोई बुराई कर बैठे।’

इन शब्दोंमें कितने भाव भरे हुए हैं ! सहृदय पाठक स्वयं देखें कि ‘मानस’ की मुहाँ-मुही और ‘पार्वतीमंगल’ की इस वातांशमें उन्हें कौनसी अधिक प्रिय है।

‘मानस’ में ससर्पि परीक्षा लेकर अंतर्धान हो जाते हैं और ‘पार्वतीमंगल’ में शिव साक्षात् प्रकट होते हैं, दोनोंमें कितना अंतर है ! तपस्याका फल, प्रेमकी प्रतिमा, प्राणोंकी अनंत याचनाका स्वरूप, एकमें नेत्रोंके आगे प्रत्यक्ष हो रहा है और शिव कहते हैं—

इमहि आजु लागि कनउड़ काहु न कोन्हेउ। पारवती तव प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ ॥ ८१ ॥

कितना प्रेम-विभोर आत्म-समर्पण है । और, दूसरेमें दूरसे ही परीक्षाके प्रश्न-पत्र भेजे गए हैं !

जिसप्रकार 'कुमार-संभव' में (सर्ग ७, श्लो० ३२-३४) शिवजीने विवाहके अवसरपर अपना कुवेश बदल दिया है, और वे सुंदर शिव हो गए हैं, उसीप्रकार 'पार्वतीमंगल' में भी उन्होंने गणों-समेत रूप-परिवर्तन किया है—

श्रीपति सुरपति बिबुध बात सब सुनि सुनि ।
हँसहि कमल कर जोरि मोरि मुख पुनि पुनि ॥ १२३ ॥
लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर ।
भए सुंदर सत कोटि मनोज मनोहर ॥ १२४ ॥
नील निचोल छाल भइ फनि मनि भूषन ।
रोम रोम पर उदित रूप मय पूषन ॥ १२५ ॥
गन भए मंगल वेष मदन मनमोहन ।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन ॥ १२६ ॥
संभु सरद राकेस नखतगन सुरगन ।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहि पुरजन ॥ १२७ ॥

'मानस' में यह रूप-परिवर्तन नहीं है, और शिव अंततक वैसेही कुरूप बने रहे हैं । उसमें नारद आते हैं और वे पार्वतीके माता-पिताको समझाते हैं कि शिव परमेश्वर हैं और पार्वतीके पूर्व-जन्ममें भी उसके पति थे, अतएव उसका पाणिग्रहण शिवके साथ वे सहर्ष करा दें । नारदका वचन मानकर शिव-पार्वतीका विवाह बड़े आनंदपूर्वक कर दिया जाता है । यहाँपर भी 'मानस' और 'पार्वतीमंगल' की कथामेंसे किसमें अधिक सुंदरता है इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं ।

गोस्वामीजीने 'जानकीमंगल' में सीता-राम-विवाह लिखा ही था, सा जान पड़ता है कि शिव-शिवा-विवाह भी सोहर छंदोंमें लिखनेकी उन्हें इच्छा बनो थी, उसीकी पूर्ति उन्होंने 'पार्वतीमंगल' की रचना करके की । जिसप्रकार 'मानस'में सीता-राम-विवाह 'जानकीमंगल' की अपेक्षा कहीं सुन्दर रूप में बन पड़ा है, वैसे ही 'पार्वतीमंगल' में शिव-शिवा-विवाह भी 'मानस' की अपेक्षा कुछ अधिक सुंदरता-पूर्वक वर्णित हो सका है ।

गीतावली

'गीतावली' के विषयमें वेणी माधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि डिग बास ।

सुभ एकांत प्रदेश महँ, आए सर सु दास ॥ २९ ॥

कवि सर दिलायउ सागर को । सुचि प्रेम कथा नटनागर को ।
 तड़के इक बालक आन लग्यो । सुठि सुंदर कंठ सों गान लग्यो ।
 भिसु ताहि बनावन गीत लगे । उर भीतर सुंदर भाव जगे ।
 जब सोरह सै बसु बीस चढ़यो । पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ़यो ।
 तिसु रामगितावलि नाम धरयो । अरु कृष्णगितावलि राँचि सरयो ॥ ३० ॥

तात्पर्य यह है कि 'गीतावली' के पदोंकी रचना सं० १६१६ से १६२८ तकके बीच हुई और उनका संग्रह सं० १६२८ में हुआ। इसप्रकार, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' गोस्वामीजीकी सर्वप्रथम रचनाएँ हैं। किंतु प्रत्येक विचार-शील पाठकको कदाचित् इस कथनके स्वीकार करनेमें संकोच होगा।

'मानस' तथा 'गीतावली' की कथाओंकी तुलना करनेपर कुछ स्थलोंपर कथाभेद मिलते हैं। ऐसे कथाभेदोंका समाधान मुख्यतया चार प्रकारसे हो सकता है—

(१) गीति-काव्यमें कथाओंकी गुथियाँ नहीं रखी जा सकतीं। वस्तु-स्थिति यह है कि गीति-काव्य कथाका उपयुक्त माध्यम हो नहीं सकता। हाँ, यदि कथाकी एक सामान्य पृष्ठभूमि लेकर उसके विशेष स्थलोंपर भाव-व्यंजना यथासंभव तीव्र कर दी जाया करे तो गीति-काव्यका उद्देश्य किसी अंशमें अवश्य पूरा हो सकता है।

(२) कथनोपकथन भी गीति-काव्यमें नहीं बन सकता, वह गीति-काव्यकी सभी विशेषताओंपर पानी फेर देता है।

(३) गीति-काव्यकी रचना स्फुट-शैलीपर होती है। किसी कथाकी पृष्ठभूमि लेकर यह संभव है कि एक कथांशकी पूर्तिके चार या छः या कुछ अधिक पद एक साथ निर्मित हों, किंतु वास्तविक गीति-काव्यमें ऐसी चेष्टा उसका महत्त्व घटा देगी। फलतः, अधिकतर विभिन्न पदोंकी रचना विभिन्न समयोंपर होती है, और वे पीछे एक सूत्रमें यथासंभव संगृहीत करे दए जाते हैं। यदि कोई कथा उनकी पृष्ठभूमिमें होती है तो यह सूत्रीकरण सरल होता है। किंतु इसप्रकार, स्फुट-रचनामें यह अनिवार्य है कि कथाके कुछ अंश छूट जाया करें।

(४) उपर्युक्त समाधानोंकी अपेक्षा मुख्यतर कारण कविकी रुचि और उसके हृदयकी भावनाओंमें परिवर्तन है। यह परिवर्तन अधिकतर विकासकी ओर होता है। यदि कविकी रुचि एकसी बनी रहे और उसकी भावुकताका विकास न हो तो उसे क्या आवश्यकता है कि एक ही वस्तु वह भिन्न-भिन्न छंदों तथा शैलियोंमें रखकर अपनी आयु तथा समाजका समय नष्ट करे। साधारण कवि,

कदाचित् आर्थिक लोभ अथवा सुयश-लाभकी आकांक्षासे, संभव है ऐसा करे भी, किंतु महाकवि इतने नीचे कदापि नहीं उतर सकता। नवीनता और मौलिकता उसके प्राण हैं। जिससमय वह देखेगा कि उसने अपना पूरा संदेश दे डाला है, वह मौन हो रहेगा।

नीचे हम 'मानस' की तुलनामें 'गीतावली' के मुख्य-मुख्य कथाभेदोंपर विचार करेंगे और देखेंगे कि उनमेंसे कौन उपर्युक्त समाधानोंमेंसे किसके आश्रित हो सकता है—

'मानस' में स्वयंवरके प्रसंगमें जनक अपने निराश वचनोंका लक्ष्मण द्वारा उत्तर पाकर सकुचित होते हैं। विश्वामित्र उसी समय रामको धनुर्भंगके लिए आज्ञा देते हैं, जिसके पालनके लिए राम हर्ष-विषाद-रहित उठ खड़े होते हैं, और रंगमंचपर बालसूर्य की-सी शोभा पाते हैं। किंतु, 'गीतावली' में विश्वामित्रकी आज्ञा तथा रामके रंग-मंचपर खड़े होनेके बीच तीन पद आते हैं। एकमें जनक कहते हैं, 'आपने जो आज्ञा दी है उससे मेरे जीमें दुबिधा है। आप ही विचारिए कि रावण तथा बाणासुर जिस धनुषको देखकर चले गए, उसे तोड़नेके लिए इन सुकुमार बालकोंको कैसे कहा जाय। यह जो साहस ये कर रहे हैं इसमें या तो इन्हें आपके भरोसेका बल, अथवा कोई रहस्य, या कुलका प्रभाव, या केवल इनका लड़कपन है। यह भी संभव है कि विधिने कन्या, सत्कीर्ति तथा विश्वविजय कुल इन्हींके लिए निर्मित की हो। अस्तु, जो भी हो, रामकी बात जिसकी परतूतोंके आप ही मूल-कारण है ईश्वर करे बनी रहे।' ऐसा सुनकर विश्वामित्रने जनककी भूरि-भूरि प्रशंसा की, यही दूसरे पदका विषय है।^१ विश्वामित्रके इन वचनोंको सुनकर 'भगवानके हृदयमें कृपा-कामधेनु हुलसी किंतु प्रण-शिशुको देखकर मर्यादा-बंधनके भीतर ही रही।' फिरभी उनसे जनककी सराहना किए बिना न रहा गया, यही तीसरे पदका विषय है।^२ यह सराहना बड़े महत्वपूर्ण शब्दोंमें की गई है। 'मानस' में यह कुल बीचका प्रसंग नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजीने 'मानस'-रचनाके पश्चात् किसीसमय यह अनुभव किया कि जनक ऐसे योगिराजकी यथेष्ट सराहना 'मानस' में भगवानने श्रीमुखसे नहीं की है जो एक त्रुटि-सी है; दूसरे लक्ष्मणके दर्पपूर्ण वचनोंके बाद ही तुरंत विश्वामित्रके आदेशसे रंगमंचपर जाकर

^१ 'गीतावली', बाल०, पद ८४

^२ वही, बाल०, पद ८५

^३ वही, बाल०, पद ८६

धनुषको तोड़ डालना आवेश-सा सिद्ध करता है, जिसमें जनकके हृदयके चूर-चूर होनेकी कोई परवा नहीं की गई है, इसलिए उन्होंने 'गीतावली' में उपर्युक्त प्रसंग और बढ़ा दिया। अतएव, 'गीतावली' का यह कथाभेद उपर्युक्त समाधानों में से चौथेके आश्रित जान पड़ता है।

एक दूसरा और विवादग्रस्त कथा-भेद परशुराम-मिलनका है। 'मानस' में धनुर्भंगके पीछे ही सभामें परशुराम आते हैं, और लक्ष्मणसे उनका घोर वाद-विवाद होता है। किंतु 'गीतावली' में इस प्रसंगको महत्व नहीं दिया गया है, और उसमें वह अनुपस्थित है। अन्य प्रसंगोंमें परशुराम-मिलनका उल्लेख छः बार हुआ है—

(क) दुसह रोषमूरति भृगुपति अति नृपति निकर खयकारी ।

क्यों सौप्यो सारंग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी ॥ बाल० १०७

(ख) परशुराम से सर सिरोमनि पल में भए खेत के धोखे ॥ सुंदर० १२

(ग) सुभट सिरोमनि कुठारिपानि सारिखेहू

लखी औ लखाई इहाँ किए सुभ सामै ॥ सुंदर० २५

(घ) ब्याली जेइ जानकी जीति जग हरयो परमुधर दापु ॥ लंका० १

(ङ) परशुराम जिन किए महामुनि जे चितए कबहूँ न कृपा है ॥ उत्तर० १३

(च) जनकमुता समेत गृह आवत परशुराम अति मदहारी ॥ उत्तर० ३८

ऊपरके प्रथम पाँच उल्लेख घटनापर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते, केवल छठा और अंतिम उद्धरण यह कहता है कि परशुरामसे बारातके लौटते समय मार्गमें भेंट हुई। किंतु, यह अंश जिस पदका है वह 'विनयपत्रिका' की सं० १६६६ की एक हस्त-लिखित प्रतिका ८१वाँ पद है।^१ उस प्रतिके पाँच पद इस समय 'विनयपत्रिका' में न मिलकर 'गीतावली' में मिलते हैं। इन पदोंमें दैन्य अथवा विनयकी भावनाके स्थानपर वर्णन कथा-वर्णन अथवा वस्तु-वर्णनकी भावना प्रधान है, कदाचित् इसीलिए इनका निर्वासन 'विनयपत्रिका' से हुआ, और इन्हें 'गीतावली' में रख दिया गया। इन्हीं पाँच पदोंमेंसे एकमें पूरा रामचरित संक्षेपमें वर्णित है, और उसी पदसे यह परशुराम-गर्व-हरण-संबंधी छठा उद्धरण लिया गया है। अतएव, 'गीतावली' के रचना-काल-निर्धारणमें यह विशेष महत्व नहीं रखता। अथवा यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जाय कि यह पद 'गीतावली' में भी पहले से ही था तो उसका समाधान यह है कि 'गीतावली' स्फुट-रचना है। यह पद निस्संदेह 'मानस' से पूर्व रचा गया होगा और संग्रहके समय यह भी रख लिया गया होगा।

^१ इस प्रति के संबंधमें विशेष चर्चा इसी लेख में आगे 'विनयपत्रिका' के रचना-काल-संबंधी विवेचन में देखिए।

किंतु पूरे परशुराम-प्रसंगके छोड़ देनेके दो कारण संभव हैं। प्रथम तो यह कि 'गीतावली' के स्फुट-रचना होनेके कारण यह छूट गया हो—अर्थात् उपर्युक्त समाधानोंमें से तीसरा—अथवा यह भी संभव है कि यह जान-बूझकर न रखा गया हो। इस पिछली अवस्थामें दो बातें हो सकती हैं, प्रथम तो यह कि गीति-काव्य, और विशेषतः पदोंमें कथोपकथन जँचता नहीं, अर्थात् उपर्युक्त समाधानोंमें से दूसरा; और दूसरे यह भी संभव है कि गोस्वामीजीने कदाचित् यह अनुभव किया हो कि परशुराम जैसे अवस्था तथा ख्यातिमें श्रेष्ठ व्यक्तिका भरी सभामें जैसा व्यंग्य और परिहास-पूर्ण उत्तर देकर लक्ष्मणने सत्कार 'मानस' में किया है, वह ऐसे श्रेष्ठ समाजको ध्यानमें रखते हुए जिसमें पृथ्वीमंडलके नरेश एकत्र थे, कुछ लड़कपन-सा लगता है, अर्थात् उपर्युक्त समाधानों में से चौथा। परशुराम साधारण व्यक्ति न थे। उनकी गणना अवतारोंमें की जाती है, इस दशामें क्या एक राजकुमार के मुँह से वह शब्दावली शोभा देती है, जिसके द्वारा 'मानस' में लक्ष्मणने उनका सत्कार किया है ?

'गीतावली' में राम लक्ष्मणके अतिरिक्त अन्य दो भाइयोंके विवाहका भी उल्लेख नहीं है। इसका कारण निश्चय ही उपर्युक्त समाधानों में से तीसरा है।

यन जाते हुए 'मानस' में जो सुंदर संवाद केवट तथा रामके बीच हुआ है, और भरतकी चित्रकूट-यात्रामें केवटोंने जो मार्गावरोधका प्रयत्न किया है, दोनों 'गीतावली' में नहीं हैं। इसका समाधान उपर्युक्तमें से कदाचित् पहले कारणसे होता है।

इसीप्रकार 'गीतावली' में राम तथा निषादके मिलनेका भी प्रसंग नहीं आया है। किंतु इसका कारण तीसरा समाधान ज्ञात होता है, क्योंकि भरतका निषादसे मिलन वर्णन करते हुए निषादको 'राम-सखा' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है, और उसने भरतको रामके कुशलका सब समाचार भी दिया है—

ता दिन शृंगबेरपुर आए।

रामसखा ते समाचार सुनि बारि बिलोचन छाये ॥ अयोध्या० ६८

चित्रकूटमें राम और लक्ष्मण केवल दोनों भाइयोंसे मिलते हैं। माताओंसे भी इनकी भेंटका कोई उल्लेख नहीं हुआ है। किंतु माताएँ, कमसे कम कौशल्या, अवश्य चित्रकूट गई थीं, जैसा पुत्रवियोगसे व्यथित होनेपर वे कहती हैं—

हाथ मीजिबो हाथ रह्यो।

लगी न संग चित्रकूटहु ते छाँ कहा जात बह्यो ॥ अयोध्या० ८४

अतः इस कथा-भेद का उतरदायित्व उपर्युक्त समाधानोंमें से कदाचित् तीसरे पर है।

चित्रकूटमें वशिष्ठ तथा जनक भी अनुपस्थित हैं। किंतु इनका न रहना उपर्युक्त समाधानोंमें से चौथेके कारण जान पड़ता है।

‘गीतावली’ में, चित्रकूटमें रामने जिन शब्दोंमें अपनी परिस्थितिका परिचय दिया है, यथा—

निज कर ग्वाल खैचि या तनु तैं जो पितु पग पाननी करावौ ।

छोड़ न उरिन पिता दशरथ तैं कैसे ताके बचन मेदि पति पावौ ॥ अयोध्या० ७२

—उन्हें पढ़नेके अनंतर ‘मानस’ की शिष्टाचार-प्रचुरता और धर्म-संस्कृतोत्पलभनें फीकी लगती हैं, और गीतिकाव्यकी तीव्र-व्यंजनाके सामने महाकाव्यके भावद्वंद्वोंकी आभा क्षीण होजाती है। ‘गीतावली’ में चित्रकूट-सभा नहीं है, उसमें दो हृदय निस्संकोच एक दूसरेसे प्रतिबिंबित होते हैं, और करुणाका एक सागर लहराता हुआ हमारी दृष्टि में आता है। भरतको ‘गीतावली’ में कोई वकील न मिलनेके कारण, जिन शब्दोंमें अपनी दारुण दशाका चित्र खींचना पड़ा है, उनसे घोर आंतरिक वेदना, अपार वैराग्य, तथा गहरी व्याकुलता स्वतः झलकती है। ‘मानस’ तथा ‘गीतावली’ के चित्रकूटोंके वातावरण एक-दूसरे से भिन्न हैं—‘मानस’ की नागरिक शिष्टाचार-प्रचुरताके स्थानपर ‘गीतावली’ में हमें वन्य सरलता मिलती है।

‘गीतावली’ में राम-लक्ष्मणादिके चित्रकूटसे पंचवटी-प्रस्थानकी सूचना निपादराजने भरतको एक पत्रिका-द्वारा दी है। ‘मानस’ में ऐसा नहीं है। ‘गीतावली’ में कई स्थलोंपर कौशल्या पुत्र-विशोगसे अत्यंत व्यथित चित्रित हुई हैं, और इस विषयमें ‘मानस’ में चित्रित विवेकमयी कौशल्यासे वे नितांत भिन्न हैं। ‘गीतावली’ में वे तीन बार हमें अधीर होती दिखाई पड़ती हैं। किंतु, पहली बार जब वे पुत्र-विशोगमें व्यथित हुई हैं तो सतानंद द्वारा राम-विवाह का निमंत्रण पाकर पुलकित हुई हैं। दूसरी बार जब वे ऐसीही व्यथित हुई हैं तो निपादराजकी इस पत्रिकाने उन्हें सांत्वना दी है। और, तीसरी बार वे अवधि के अंत में जब व्याकुल हुई हैं तब हनुमानने राम-लक्ष्मणके आगमनका समाचार देकर उन्हें गद्गद किया है। इसप्रकार, गोस्वामीजीने ‘गीतावली’ में विरह-व्यथा और सांत्वना एकके पोछे दूसरी इतनी सुंदरतासे रखी है कि निस्संदेह इससे उनकी सुरुचि और प्रतिभाका विकास झलकता है। अतएव, निपादराजकी यह पत्री उपर्युक्त चौथे समाधानके कारण जान पड़ती है।

‘मानस’ में सीताहरणके उपरांत जब रामने लौटकर कुटीको जानकी-हीन देखा है तो वे अत्यंत व्याकुल हुए हैं, और लक्ष्मणके बहुत समझानेपर भी चेतनाने उनका पूरा साथ नहीं दिया है, और वे लता-पत्रोंसे पूछते हुए चले हैं । किंतु ‘गीतावली’ में मारोच-वधके पश्चात् अपनी कुटीपर लौटनेपर रामको देव-ताओं-द्वारा सीताकी ‘सुधि’ मिलनेका उल्लेख हुआ है—

देखे रघुपतिगति विबुध बिकल अति
तुलसी गहन बिनु दहन दहे ।
अनुज दियो भरोसो तो लौं है सोच खरोसो
सिय समाचार प्रभु जौ लौं न लहे ॥ अरण्य० १०

जब सिय सुधि सब सुरनि सुनाई ।
भए सुनि सजग बिरहसरि पैरत थके थाह सी पाई ॥
कसि तूनीर तीर धनु धर धुर धीर बीर दोउ भाई ।
पंचवटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहनी लाई ॥
चले बूझत बन वेलि विटव खग मृग अलिअवलि सुहाई ॥ अरण्य० ११

देवता, जिनके त्राणके लिए राम यह कुल कष्ट भेल रहे थे, जानते हुए भी यदि सीताकी ‘सुधि’ न देते तो उनका-सा कृतघ्न और कौन होता; इसके अतिरिक्त, उनकी अर्थ-सिद्धि भी तो यह सूचित करने में थी कि सीताका हरण करनेवाला रावण ही था जो उन सबका भी शत्रु था । यह कथाभेद कदाचित् जान-बूझकर किया गया है, फलतः इसका कारण उपर्युक्तमेंसे चौथा समाधान जान पड़ता है ।

बालि-वध तथा सुग्रीव-मैत्रीके प्रसंग ‘गीतावली’ में नहीं हैं, यद्यपि इनका उल्लेख अन्य प्रसंगोंमें कई स्थलोंपर हुआ है । अतएव, इस झुट्टिके लिए कदाचित् उपर्युक्त तीसरा समाधान ही उत्तरदायी है ।

हनुमानजीसे लंकामें विभीषणकी भेंटका भी प्रसंग ‘गीतावली’ में नहीं आया है, किंतु विभीषणकी शरणागतिके प्रकरणमें हनुमान कहते हैं—

दिय पिहंसि कहत हनुमान सों ।
सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषण बूझि परत अनुमान सों ।
हौं बलि जाउँ और को जानै कही कपि कृपानिधान सों ॥ सुंदर० ३३

हनुमानका रामसे कहना कि “मेरे अतिरिक्त विभीषणको कौन जानता होगा ?” इस बातकी ओर संकेत अवश्य करता है कि हनुमानको विभीषणका परिचय इस कथनमें पूर्व हुआ था । यह परिचय सीताकी खोजमें लंका जानेपर

ही हो सका होगा, अतएव यह कथाभेद उपर्युक्त समाधानोंमें से पहले या तीसरेके कारण होगा ।

‘गीतावली’ में, हनुमानके संमुख न त्रिजटासे सीताकी अग्रियाचनाका प्रसंग आया है, और न रावणसे उनका संवाद ही । किंतु, दूसरेका दो स्थलों-पर इसप्रकार उल्लेख हुआ है—

(क) अकनि कटु बानी कुटिलकी क्रोधविष्य बढोइ ।

सकुचि सम भयो ईसआयसु कलसभव जिय जोइ ॥ सुंदर० ५

(ख) मैं सुनी बातै असैली जे कही निसिचर नीच ।

क्यों न मारै गाल बैठो काल दाढ़न बीच ॥ सुंदर० ६

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कथाभेदका कारण उपर्युक्त समाधानोंमें से प्रथम अथवा तृतीय है ।

सीता-मुद्रिका-संवाद ‘मानस’ में नहीं है, और ‘गीतावली’ में है । यह संवाद यद्यपि कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है, फिरभी इस कथाभेदके लिए कविकी रुचि ही उत्तरदायी जान पड़ती है । फलतः यह कथाभेद उपर्युक्त चौथे समाधानके आश्रित होगा ।

विभीषण रामकी शरणमें जानेसे पूर्व, ‘गीतावली’ में, मातासे मिलकर कुवेरके पास जाता है । कुवेर विभीषणका भाई लगता था, और वह भगवद्भक्त भी था । उसके यहाँ शिव-ऐसे परम-भागवत आया करते थे । अतएव, विभीषणके लिए कुवेरकी सम्मति लेना स्वाभाविक ही था, क्योंकि भाई होनेके अतिरिक्त वह अपनी ही प्रकृतिका भी था । विभीषणके लिए रावणकी लात खानेके अनंतर यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने बड़े भाईके शत्रुकी शरणमें चला जाता । विभीषणके चरित्रपर अधिकतर जो कलंक लगाया जाता है वह उसके सीधे रामकी शरणमें जानेके कारण है, किंतु ‘गीतावली’ में यह त्रुटि भलीभाँति दूर कर दी गई है । ‘गीतावली’ में विभीषण भाईकी लात खाकर पहले माताके पास गया । माताने तो समाधान किया और कहा, ‘क्या हानि हुई, यदि रावणने लात मारी । वह तेरा बड़ा भाई है, पिताके समान है, यातुधान-कुलका तिलक है, उसके अपमान करनेसे भी तेरी बड़ी बड़ाई है ।’ किंतु इससे विभीषण को शांति नहीं मिली । माताने उसे ग्लानिसे संतप्त जानकर उसका सम्मान किया और शिक्षा दी, ‘रोष करनेसे दोष और सहन करनेसे भला होता है ।’ फिरभी विभीषणको संतोष न हुआ । तब माताने कहा, ‘यहाँसे विमुख होकर रामकी शरण में जानेपर भलाई थोड़ी है, किंतु लोक-मर्यादाकी रक्षा करनेसे अत्यंत हित होगा ।’ विभीषणको उस थोड़ीसी भलाईमें दूसरीकी अपेक्षा अधिक-

सुखकी आशा हुई, और उसने देखा कि माता उसे एकदम रोक भी नहीं रही थी, इसलिए वह माताके चरणोंमें सिर झुकाकर चल पड़ा ।' फिर उसे कुवेरका ध्यान आया । इसलिए वह कहता है—

कृपानिधि को मिलौ पै मिलि कै कुबेर ॥ सुंदर० २७

कुवेरसे तो वह मिला ही, संयोग-वश शंकर भगवान भी वहाँ आ उपस्थित हुए । भक्ति-भावना विभीषणके हृदयमें तरंगित होरही थी, फिरभी उसके हृदयमें कुछ असमंजस था । शंकरने यह ताड़ लिया, और कहा—

रामकी सरन जाहि सुदिन न हरे ॥ सुंदर० २७

‘रामकी शरणमें शीघ्र जा, उसके लिए सुअवसरकी प्रतीक्षा अनावश्यक है ।’ वह तैयार हो गया । इसप्रकार ‘गीतावली’ में विभीषण माताकी, भाईकी, तथा शंकरकी अनुमति लेकर रामकी शरणमें जाता है, अतएव, वह स्वार्थांधता, ईर्ष्या आदि उन सभी आचेष्टोंसे बच जाता है जिनसे वह अन्यथा दोषी ठहरता । यह कथा-भेद उपर्युक्त समाधानोंमें से चौथेके आश्रित जान पड़ता है ।

लक्ष्मण-शक्तिके अन्तर हनुमान संजीवनी लाते समय भरतके वाणसे आहत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े हैं। ‘मानस’में इस समय माताएँ अनुपस्थित हैं, किंतु ‘गीतावली’ में माताएँ भी हैं । सुमित्राने लक्ष्मण-शक्तिका समाचार पाकर जो कुछ कहा है वह एक वीर-प्रसू माताका आदर्श उपस्थित करता है । ‘मानस’ में वह नहीं है । ‘गीतावली’ में एक ओर उसका एक लाल समरचेत्र में धराशायी है—यद्यपि उसे यह संतोष है कि उसने अपने स्वामीकी सेवामें यह बलिदान किया है—दूसरी ओर वह अपने दूसरे लालको भी समरचेत्रमें जानेके लिए आदेश करती है—

सुनि रन घायल लखन परे हैं ।

स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं ।

रुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति भगति बरे हैं ।

छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन दुलसत होत हरे हैं ।

कापि सों कहति सुभाय अंबके अंबक अंनु भरे हैं ।

रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर यद्यपि धनु दुसरे हैं ।

तात जाहु कपि संग रिपुदमन उठि कर जोरि खरे हैं ।

प्रमुदित पुलकि पैत पूरे जनु बिधिबस सुदर ढरे हैं ।

अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं ।

तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥ लंका० १३

दो विरोधी भावोंके अनुभाव कितनी सूक्ष्मतासे मिश्रित किए गए हैं ! कविकी प्रतिभा जितनी इस स्थानपर प्रस्फुटित हुई है, उतनी उसकी कुल कृतियोंमें भी कदाचित् अधिक स्थलोंपर न मिलेगी। फलतः, इस कथाभेदका कारण भी उपर्युक्तमें से चौथा समाधान जान पड़ता है।

‘गीतावली’ के उत्तरकांडमें राघवका हिंडोलना^१ तथा फाग^२ वर्णित हैं। इसका कारण कदाचित् गोस्वामीजीका उस समयके कृष्ण-साहित्य से प्रभावित होना है। अयोध्या-कांडमें चित्रकूटका वर्णन करते हुए ‘चाँचरि’ की उत्प्रेक्षाका आश्रय लिया गया है,^३ और हनुमान-द्वारा लंका-दहनके दृश्यकी भी फागके रूपमें कल्पना की गई है।^४ ‘गीतावली’ की इन सब विशेषताओंपर तत्कालीन कृष्ण-साहित्यका प्रभाव स्पष्ट है। सूरदासके ‘सूरसागर’ की रचना ‘गीतावली’ के पूर्व हो चुकी थी, और इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथपर उसका स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है, यहाँतक कि ‘गीतावली’ में ‘सूरसागर’ के कई पद कुछ शब्दोंके हेर-फेरके साथ हमें मिलते हैं। वेणीमाधवदासने तो लिखा है कि ‘गीतावली’ की रचना ही गोस्वामीजीने ‘सूरसागर’ देखकर की।^५ यदि हम इसे न स्वीकार करें, तोभी ‘गीतावली’ ‘सूरसागर’ से प्रभावित है इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। फलतः इस कथाभेदका कारण भी उपर्युक्त चौथा समाधान जान पड़ता है।

‘गीतावली’ का अंतिम मुख्य कथा-भेद यह है कि उसमें सीताके निर्वासन^६, लव और कुशके जन्म, तथा उनकी छठी, बारहीं और बाल-क्रीड़ाके भी वर्णन हैं, जो ‘मानस’ में नहीं हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कविने ‘गीतावली’ में एक-बार राम-सीताके जीवनका वह अंश भी चित्रित करना चाहा था, जिसे वह ‘मानस’ में न कर सका था, और कुछ दूर गया भी, किंतु कदाचित् उसकी सुकुमार लेखनी रामके पैरोंतले रौंदे हुए सीताके दुखी जीवन तथा दंपतिके नैराश्यपूर्ण आत्मघातका चित्रण न कर सकी, और वह चुप होकर बैठ रहा। इन कथाभेदोंका कारण भी उपर्युक्त चौथा समाधान ही जान पड़ता है।

१ ‘गीतावली’, उत्तर०, पद १८

२ वही, उत्तर०, पद २१ तथा २२

३ वही, अयोध्या०, पद ४७, ४८ तथा ४९

४ वही, सुंदर०, पद १६

५ ‘मूल गोसाईंचरित’, दो० ३०

६ ‘गीतावली’ में लक्ष्मण सीताको वाल्मीकिको सौंप आए हैं, जबकि ‘वाल्मीकि रामायण’ तथा ‘रघुवंश’ में वे सीताको गंगाके पार उतार और मुनिके आश्रमका मार्ग बताकर चले आए हैं। ‘वाल्मीकि रामायण’ में सीताका समाचार मुनि शिष्योंसे पाकर और ‘रघुवंश’ में उनका रोना सुनकर उन्हें अपने आश्रम में ले गए हैं।

इसप्रकार, 'मानस' की तुलनामें 'गीतावली' के कथाभेदों और उनके समाधानोंपर विचार करनेसे स्वतः हमारी यह धारणा हो जाती है कि 'गीतावली' 'मानस' से पीछेकी रचना है। नीचे हम 'गीतावली' की कुछ अन्य प्रमुख विशेषताओंपर भी विचार करेंगे।

'मानस' में राम-लक्ष्मणादिकी वाल्यावस्था तथा माताओंकी ममता-मयी प्रकृतिका यथेष्ट चित्रण नहीं हुआ है, किंतु 'गीतावली' में ये दोनों ही पूर्ण-रूपसे चित्रित हुए हैं, विशेषतः मातृ-पक्ष।

बाललीलाका साधारण परिचय हमें इसप्रकार मिलता है—

आज सवेरेसे ही राम अनमने हैं, और भलीभाँति दूध नहीं पीते हैं, ऐसा समझा जाता है कि किसी दुष्टा स्त्रीने नज़र लगा दी है। शीघ्र ही वशिष्ठजी बुलाए जाते हैं और वे भाड़-फूक करते हैं। रामके मस्तकपर उनके हाथ रखते ही राम किलकने लगते हैं।^१

वशिष्ठजी 'गीतावली' में 'अथर्वणी' की भाँति चित्रित हैं—

आपु वशिष्ठ अथर्वणी महिमा जग जानी ॥ बाल० ६

आगमियोंका बड़ा मान है—यही सोचकर शंकरजी भी एक वृद्ध ब्राह्मणका वेश धारणकर राजकुमारोंका हाथ देखनेके बहाने रामका दर्शन करनेको उपस्थित होते हैं।^२

बालकोंको सुलानेके लिए अच्छी-अच्छी लोरियाँ सुनाई जाती है।^३ वे पालनेपर झुलाए जाते हैं।^४ जब वे कुछ बड़े होते हैं, और आँगनमें खेलने लगते हैं, तो माताएँ उनकी क्रीड़ासे निरंतर आनंदित होती हैं।^५ बालोचित आभूषणादिसे राज-कुमार आभूषित किए जाते हैं।^६ वे सबेरे सुमधुर प्रभातियों द्वारा जगाए जाते हैं।^७ जब वे और बड़े होते हैं, वे कभी अवध की गलियोंमें विहार करते हैं, कभी छोटी-छोटी धनुहियाँ और तीर लिए हुए निकल पड़ते हैं, और कभी चौगान खेलते हैं।^८

^१ 'गीतावली,' बाल०, पद १२

^२ वही, बाल०, पद १४

^३ वही, बाल०, पद १६ १७, और १८

^४ वही, बाल०, पद १५, १९, २० और २१

^५ वही, बाल०, पद २३, २७ और २८

^६ वही, बाल०, पद २९, ३० और ३१

^७ वही, बाल०, पद ३३, ३४, ३६ और ३७

^८ वही, बाल०, पद ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ और ४४

इन बाल-क्रीड़ाओंमें भी मातृ-पक्षकी झलक अवश्य मिल जाती है, किंतु उसका पूर्ण परिचय माताओंके राम-लक्ष्मणसे वियुक्त होनेपर मिलता है।

‘मानस’ की कौशल्या एक विवेकमयी माता हैं। भगवानने सतरूपाको वर देते हुए कहा था^१—

मातु विवेक अलौकिक तोरे । मिटिहि न कबहुँ अनुग्रह मोरे ॥

और ‘मानस’ में इस वचनकी पूर्ण रक्षा की गई है। पूरे ग्रंथभरमें कौशल्या जभी मोहके अभिभूत होनेको होती हैं तुरंत विवेक उन्हें उसके बाहर कर देता है। इसप्रकारका निर्वाह गोस्वामीजीने ‘मानस’-ऐसे कथा-काव्यमें तो पूरा-पूरा किया है, किंतु ‘गीतावली’ में भी यदि कहीं उन्होंने ऐसा ही प्रयत्न किया होता तो निश्चय ही ‘गीतावली’ को गीतिकाव्य कहना कठिन हो जाता, क्योंकि ‘गीतावली’ में रसका परिपाक तीव्र व्यंजनाकी भित्ति पर इने-गिने स्थलोंपर ही हो सका है, और इन इने-गिने स्थलोंमें कौशल्याके पुत्र-विरह-संबंधी उद्गारोंका स्थान सर्वप्रमुख है।

कौशल्याके ऐसे उद्गार तीन बार आए हैं—

(क) जब राम-लक्ष्मण विश्वामित्रके साथ चले गए थे ।^२

(ख) भरतादिके चित्रकूटसे बिना रामके लौटे लौटनेके उपरांत ।^३ तथा

(ग) बनवासकी अवधिके अंतमें ।^४

जैसी वेदना और जैसा मातृ-हृदय इन थोड़ेसे पदोंमें भरा है, वह अपूर्व है। ‘गीतावली’ में जो सरसता है, उसके अधिकांशका श्रेय इन्हींको है। पहली बारकी विरह-व्यथा सतानंदके द्वारा सीता-राम-विवाहका संदेश पाकर शांत हुई है। फिरभी, राम-लक्ष्मणके जनकपुरसे लौटनेपर जननी हृदय जैसा पुलकित हुआ है,^५ वह पढ़ने ही योग्य है। दूसरी बारकी वियोग-व्यथा निषाद-राजके उस पत्रसे शांत हुई है जिसे उन्होंने भरतके पास भेजा था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तीसरी बार जब अवधिके अंतमें वे पुत्र-वियोगसे व्यथित हुई हैं, तब राम-लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें शांति प्राप्त हुई है।^६ कहाँ ‘मानस’ का निस्संदेह विवेकमय किंतु कुछ अस्वाभाविक मातृ-पक्ष और कहाँ ‘गीतावली’ का

^१ ‘मानस’ (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, दो० १५१

^२ ‘गीतावली’, बाल०, पद ९७, ९८ और ९९

^३ वही, अयोध्या०, पद ८३, ८४, ८५, ८६ और ८७

^४ वही, लंका०, पद १७, १८, १९ और २०

^५ वही, बाल०, पद १०७ और १०८

^६ वही, लंका०, पद १९ और २०

चास्सल्य-प्रचुर और नितांत स्वाभाविक जननी-हृदय ! दोनोंमें कितना अंतर है ! 'गीतावली' के अन्य चरित्रोंमें भी 'मानस' के चरित्रोंकी अपेक्षा कुछ-न-कुछ इसी प्रकारका अंतर मिलता है ।

'गीतावली' में सुमित्राका चरित्र आदर्श वीर-प्राताका है, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है । 'मानस' में यह कहाँ है ? कैकेयीका चरित्र जैसा 'मानस' में अंकित है, उसे पढ़नेपर हमारे हृदयमें उसके प्रति घृणाका संचार होता है, और हम मुँह फेर लेते हैं, और बार-बार सोचते हैं कि क्या एक सचरित्रका इतना भी पतन संभव है, और अंतमें संसारसे दुराशा और नारी-जातिपर अविश्वासकी भावनाएँ प्रबल होती हैं । किंतु, 'गीतावली' की कैकेयीमें उतनी भयंकरता नहीं है ।

'मानस' में, राम ब्रह्म हैं और मानव-शरीर धारणकर नर-लीला कर रहे हैं—यह स्थान-स्थानपर कहा गया है, देवताओं, ऋषियों, तथा मुनियोंद्वारा उनकी स्तुति भी स्थान-स्थानपर कराई गई है, किंतु 'गीतावली' में यह नहींके बराबर है ।

लक्ष्मणका चरित्र 'मानस' में एक उद्धत राजकुमारका सा है, किंतु 'गीतावली' में ऐसा नहीं है । वास्तवमें, 'मानस' में लक्ष्मणके चरित्रके साथ पूरा न्याय नहीं किया गया है, भरतको रामने स्थान-स्थानपर सबसे अधिक प्रिय माना है, और अयोध्याकांडमें तो उत्तरार्द्धके वे ही नायक हो गए हैं । किंतु, 'गीतावली' में ये बातें नहीं हैं । 'गीतावली' में लक्ष्मणके चरित्रके साथ पूरा न्याय हुआ है । उन्हें शक्ति लगनेपर राम कहते हैं—

सेवक सत्ता भगति भायप गुन चाहत अब अयए है । लंका० ५

लक्ष्मणके त्याग, बलिदान तथा स्वामिभक्ति-पूर्ण चरित्रका महत्व 'मानस' की अपेक्षा 'गीतावली' में ही विशेष रूपसे समझा गया मालूम पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त, 'मानस' में, लक्ष्मणके चरित्रका एक दृश्य, जिसकी कोमलताके प्रतिस्पर्द्धी कम मिलेंगे, नहीं है और 'गीतावली' में वह निस्संदेह अनुपम ढंगसे उपस्थित किया गया है । इस दृश्यसे न केवल लक्ष्मणका वरन् सीताका भी चरित्र निखर गया है । कितना पिवत्रा देनेवाला है सीता—गर्भिणी सीता—के निर्वासन का दृश्य !

जब लक्ष्मण सीताको मुनिके आश्रममें छोड़ कर लौटने लगे, तब सीताने कहा—'हे कृपालु लक्ष्मणलाल, मुझे नितांत न भुला देना । राज-धर्म ही समझकर सभी तपस्विनी स्त्रियों की भाँति मेरा भी पालन करना ।' ऐसा कहनेके

१ 'गीतावली'; उत्तर०, पद २९

उपरांत सीताके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे और लक्ष्मण व्याकुल हो उठे। कोई उत्तर नहीं निकलता था। उन्होंने विधिको अपने प्रतिकूल माना कि ऐसे अवसरपर भी उनके प्राण न निकले। वे मौन ही सीताके चरणोंको छूकर और उनका आशीश लेकर लौटे, और उन्होंने यह अनुभव किया कि एकबार उन्होंने पिताको जो कठोर बचन कहे थे, उसके पापका परिताप इन्हें सहन करनेसे ही शीतल हो सकता था।^१ मौन ही बार-बार वे सीताके चरणोंमें पड़कर लौटे। मन पश्चात्तापमें निमग्न था, और रथ मानों उन्हें चुराकर भग लिए जा रहा था। वे अपने मनमें कहने लगे, 'बनमें बिना भोजन, रणमें बिना वर्मके मैं बुरे आघातोंसे बचता रहा। हनुमानने भी असह्य वेदना ही सहन करनेके लिए मुझे जिलाया। मैं ही पिछली बार सीता-हरणका हेतु हुआ, और इसबार भी उनके निर्वासनमें सहायक हुआ। ऐसी दारुण कृतियोंके लिए दैव नित्य ही हमारे दाहिने होता है। जिसके लिए यशस्वी गृद्धने युद्ध करके प्राणोत्सर्ग किया, उसको मैं बनमें पहुँचाकर अयोध्या स्वभावतः चला जा रहा हूँ। मुझे विधनाने ही पाषाण-हृदय और क्रूरकर्मा बनाया। कृपानिधान रामने अपना दास जानकर मुझे शरणमें रक्खा (अन्यथा मेरे-ऐसे कुटिल व्यक्ति को कौन स्थान देता!)।^२ लक्ष्मणका यह पश्चात्ताप-पूर्ण चित्र कितनी कोमल तथा सुकुमार अनुभूतिका परिचायक है! 'मानस' में यह सुकुमारता और कोमलता लक्ष्मणके चरित्र में कहाँ है? उसमें लक्ष्मण एक उद्धत राजकुमार, साहसी सैनिक, दृढ़ युवक, स्वामिभक्ति-परायण सेवक तथा त्यागकी मूर्ति अवश्य हैं, किंतु 'गीतावली' के लक्ष्मण उनसे उच्चतर कक्षाके नायक हैं, क्योंकि एक पश्चात्ताप-पूर्ण, कोमल और सुकुमार हृदय उनके कठोर वृत्तस्थलकी ओटमें पड़ा हुआ उनके पूरे जीवनको अनुप्राणित कर रहा है।

इसप्रकार, जब हम 'गीतावली' के चरित्र चित्रणकी ओर देखते हैं तो उसमें 'मानस' का आदर्शवाद ढीला पड़ा हुआ ज्ञात होता है; चरित्रोंकी अलौकिकता दूरकर उन्हें वास्तविक मानव-रूपमें चित्रित करनेकी ओर झुकाव 'गीतावली' में हम आदिसे अंततक पाते हैं। फलतः, 'गीतावली' में चरित्र-चित्रण 'मानस' की अपेक्षा एक सुकुमार लेखनीसे किया गया है, यह अत्यंत स्पष्ट है।

'गीतावली' में अनेक स्थलोंपर 'मानस' की शब्दावलीका प्रयोग हुआ है, और कहीं-कहीं तो वाक्यविन्यास भी उसीका आया है, यथा—

^१ 'गीतावली', उत्तर०, पद ३०

^२ वही, उत्तर०, पद ३१

गीतावली—कन्या कल कीरति विजय विश्व की बटोरि..... बाल० ८४

मानस—दोहा—कुँवरि मनोहरि विजय बड़ि कीरति अति कमनीय ॥ बाल० २५१

गीतावली—जो सुत तात बचन पालन रत जननिहुँ तात मानिबे लायक ॥ अयोध्या० ३

मानस—जौ केवल पितु आयसु ताता । तो जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥ अयोध्या० ५६

गीतावली—हौं पुनि पितु आज्ञा प्रमान करि ऐहौं बेगि सुनहु दुति-दामिनि ॥ अयोध्या० ५

मानस—मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी । बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥ अयोध्या० ६१

गीतावली—हौं रहौं भवन भोग लोलुप हूँ पति कानन कियो बनको साजु ।

तुलसीदास ऐसे बिरह बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु ॥ अयोध्या० ६७

मानस—मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुमहिँ उचित तप मोकहँ भोगू ।

दोहा—ऐसेहु बचन कठोर सुनि जौ न हृदय बिलगान ॥ अयोध्या० ६७

गीतावली—दिनकर बंस पिता दसरथ से राम लखन से भाई ।

जननी तू जननी तो कहा कहाँ बिधि केहि खोरि न लाई ॥ अयोध्या० ६०

मानस—दोहा—हंस बंस दसरथ जनक राम लखन से भाइ ।

जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥ अयोध्या० १६१

गीतावली—तातें हौं न देन दूषन तोहूँ ।

राम विरोधी उर कठोरतें प्रगट कियो बिधि मोहूँ ॥ अयोध्या० ६१

मानस—दोहा—राम विरोधी हृदयतें प्रगट कीन बिधि मोहिं ।

मो समान को पातकी बादि कहाँ कछु तोहिं ॥ अयोध्या० १६२

गीतावली—जद्यपि मोतें कै कुमातुतें हूँ आई अति पोची ।

सनमुख गये सरन राखिहै रघुपति परम सँकोची ॥ अयोध्या० ६५

मानस—जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मोहिं कारन भइ सकल उपाधी ।

तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेली ।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अयोध्या० १८३

गीतावली—मेरो सुनियो तात संदेसो ।

सीयहरन जनि कहेउ पिता सों हूँहै अधिक अंदेसो ।

रावरे पुन्य प्रताप अनल मँह अलप दिननि रिपु दहिहै ।

कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहै ॥ अरण्य० १६

मानस—दोहा—सीताहरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ ।

जो मैं राम तो कुलसहित कहिहिं दसानन आइ ॥ अरण्य० ३२

गीतावली—लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन कोर ॥ सुंदर० २०

मानस—लोचन जल रहु लोचन कोना । जैसे परम कृपिन कर सोना ॥

गीतावली—हौं ही दसन तोरिबे लायक कहा करौं जो न आयसु पायो ॥ लंका० ४

मानस—मैं तब दसन तोरिबे लायक । आयसु पै न दीन रघुनायक ॥ लंका० ३४

गीतावली—होतो जो नहिं जग जनम भरत को ।

तौ कपि कहत कृपानधार मग चलि आचरन करत को ।

धीरज धरम धरनिधर धुर तें गुरु धुर धरनि धरत को ॥ लंका० १२

मानस—जौ न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥ अयोध्या० २३३

उपर्युक्त प्रकारका साम्य तीन दशाओंमें संभव होता—

(क) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' के साथ-साथ हुई होती । किंतु 'गीतावली' तथा 'मानस' की कथाओं तथा चरित्र-चित्रण आदिमें इतना अंतर होते हुए—जैसा हम अभी देख चुके हैं—यह कल्पना निराधार होगी ।

(ख) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' से पूर्व हुई होती । किंतु, यह पहली कल्पनासे भी अधिक निराधार है, क्योंकि एक-तो जो कथाभेद तथा चरित्र-चित्रणोंमें अंतर हमने ऊपर देखे हैं, उनसे 'गीतावली' में 'मानस' की अपेक्षा इन विषयोंमें सुधार लक्षित होता है, दूसरे, यह असंभव ज्ञात होता है कि 'गीतावली' में पहले पूरी कथाका प्रबंध बीसों वृहद् ग्रंथोंके अध्ययनके बाद बाँधकर तब 'मानस' में उसे पीछे रखवा गया हो । यदि 'गीतावली' में प्रबंध-निर्माणका प्रयास होता तो उसमें कई स्थानोंपर जो कथा-सूत्र टूटा हुआ है वह न होता । उदाहरणार्थ, दशरथ-द्वारा राम-राज्याभिषेकके निर्णय तथा वन-यात्राके लिए मातासे रामकी विदाईके बीच कैकेयीका वर-याचना-प्रसंग, बालिबध तथा सुग्रीव-मैत्रीकी कथाएँ 'गीतावली' में नहीं हैं; उसके किष्किंधाकांडमें केवल दो पद आते हैं, एकमें राम सीताके 'भूषण बसन' आदिका अवलोकन करते हैं, और दूसरेमें वे कहते हैं कि वर्षाके व्यतीत होनेपर शरद ऋतु भी उपस्थित हो गई किंतु सुग्रीवने सीताका पता न लगाया । इसीप्रकार लक्ष्मण-शक्तिके अनंतर ही राम विजयोत्थसित वर्णित हैं, और तत्पश्चात् उनका अयोध्याको प्रस्थान वर्णित है—रावण-वध तथा सीता-मिलन आदिके प्रसंग ही छोड़ दिए गए हैं । इसके अतिरिक्त, यदि 'गीतावली' में कथा-निर्माणका प्रयास होता तो कई स्थलोंपर एक-ही बात जो कई बार दुहराई गई है, वह पुनरावृत्ति भी हमें उसमें न मिलती । फिर, काव्य-शास्त्रका यह एक सिद्धांत-सा है कि स्फुट-काव्यमें—और उसमें भी गीतिकाव्यमें—कथा अथवा किसी प्रकारका प्रबंध-निर्माण अधिकतर, नहीं होसकता और 'गीतावली' कदाचित् इस सिद्धांतका अपवाद नहीं है ।

(ग) यदि 'गीतावली' की रचना न 'मानस' के साथकी है, और न उसके पूर्वकी, तो वह स्पष्ट ही उसके पीछेकी ठहरती है, और ऊपर यही अन्य प्रमाणोंसे भी सिद्ध होचुका है, । 'सूरसागर' अथवा 'गीतावली' ऐसे गीतिकाव्योंके लिए

यह अनिवार्य था कि एक पूर्ण कथा-प्रबंध उनकी पृष्ठभूमि में होता। 'मानस' के लिए जिस कथाका निर्माण गोस्वामीजीने कमसे कम बीसों ग्रंथोंके अध्ययनके पश्चात् किया था वही 'गीतावली' की भी है। यदि कहीं-कहीं उसमें थोड़ा-बहुत भेद पड़ा है तो वह, जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, कुछ गीतिकाव्यकी अनिवार्य त्रुटियों, स्फुट-रचना-प्रणालीके दोषों तथा कविकी प्रतिभा तथा रुचिमें परिवर्तन अथवा विकारके कारण है। अन्यथा 'मानस' में, 'अध्यात्मरामायण' की तुलनामें, जो मुख्य-मुख्य कथा-भेद आदि हैं—जैसे फुलवारी-लीला इत्यादि—वे लगभग कुल 'गीतावली' में भी उसीप्रकार हैं।

इसप्रकार सभी दृष्टियोंसे विचार करनेपर 'गीतावली' की रचना 'मानस' के पीछेकी सिद्ध होती है। शब्द तथा वाक्य-विन्यासमें 'गीतावली' जो 'मानस' से कितने ही स्थलोंपर मिलती है, उसका कारण 'मानस' का गोस्वामीजी-द्वारा निरंतर पारायण है। अपनी ही रचना, और फिर उसके परमप्रिय होनेके कारण उसका निरंतर पाठ करते रहने से, यदि वही शब्दावली और वाक्य-विन्यास एक पीछेवाली रचनामें इतस्ततः मिलते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं—विशेषतः तब जबकि इस रचनाका विषय भी वही हो जो पहलीका था।

प्रश्न अब यह है कि 'गीतावली' की रचना यदि 'मानस' के पीछेकी है तो कितने पीछे की? उपर्युक्त साक्ष्योंके आधारपर यह अनुमान होता है कि 'मानस' से 'गीतावली' की रचना १२ या १३ वर्ष पीछे माननी पड़ेगी। इससे कम समय कदाचित् पर्याप्त न होगा, क्योंकि जैसा हमने ऊपर देखा है सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान देनेपर दोनोंकी मूल प्रवृत्तियोंमें कुछ अंतर अवश्य है, जिसके लिए यह समय अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर, सात-आठ वर्ष पीछेतक तो गोस्वामीजीने 'मानस' को ही सवारा होगा—और निश्चय ही 'मानस' जिस रूपमें हमें अब उपलब्ध है वह सं० १६३१ का मूल-रूप नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, महाकविको जबतक कोई नवीन संदेश नहीं उपस्थित करना होता, तबतक वह किसी बड़ी कृतिमें हाथ नहीं लगाता—और यदि इस दूसरी रचनाका भी विषय पहली ही रचनाका होता है, तब बीचका समय और भी लंबा होना चाहिए, क्योंकि यदि विषय अथवा उसके प्रतिपादनमें कोई नवीनता न हुई तो कमसे कम दृष्टिकोणमें वह अवश्य अपेक्षित होती है। और, इस नवीनताके लिए १२ या १३ वर्षका समय अधिक नहीं कहा जा सकता। अतएव, 'गीतावली' का रचना-काल सं० १६४४ तथा उसके पीछे ही माना जा सकता है। 'गीतावली' की रचना स्फुट ढंग से हुई है, फलतः यदि उसके

अधिकतर पदोंकी रचनाके लिए चार वर्षका समय रक्खा जावे तो वह सं० १६४४-४८ होता है ।

कहाँ वेष्णीमाधवदासका 'गीतावली' को गोस्वामीजीकी सर्व-प्रथम कृति कहना, और कहाँ ये कुलबातें ! 'गीतावली' के कुछ पदोंकी रचना संभव है 'मानस' से पूर्व हुई हो, किंतु उसका अधिकांश 'मानस' के पीछेकी ही कृति होनी चाहिए । 'गीतावली' को कविकी सर्व-प्रथम कृति कहना भी उतना ही अन्याय-पूर्ण लगता है जितना 'रामललानहछू' को उसकी अंतिम रचनाओंमें रखना । सर्व-प्रथमकी बात दूर, प्राथमिक रचनाओंमें ही प्रयोगात्मकता होती है, उनकी शैलीमें शिथिलता होती है, शब्दाडंबर विशेष किंतु भावोंका प्रकटीकरण यथेष्ट नहीं होता, और सबसे अधिक, कविका अंधेरेमें टटोलनेका प्रयास होता है, किंतु ये सब श्रुटियाँ 'गीतावली' में कहाँ हैं ? 'गीतावली' गोस्वामीजीकी अंतिम कृतियोंमें भी नहीं रक्खी जासकती, क्योंकि उनमें भाव-भंडारके व्यक्तीकरणके लिए किसी एक ही भाषाके शब्द-भंडारकी अपर्याप्तता, कुछ दुरुहता, सरसताकी न्यूनता तथा श्रुतिमधुरताकी कुछ अवहेलना आदि बातें होती हैं, जो 'गीतावली' में नहीं हैं । 'गीतावली' वास्तवमें एक माध्यमिक रचना है, जिसमें भाव तथा भाषाका पूर्ण सामंजस्य हुआ है, शैली परिष्कृत है, भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है, और अकेले उसीका शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है । फलतः शैलीके साक्ष्यसे भी 'गीतावली' की रचनाके लिए सं० १६४४-४८ की तिथि अनुपयुक्त नहीं जान पड़ती ।

कृष्णगीतावली

'कृष्णगीतावली' की रचना 'गीतावली' के साथकी मानी जाती है । वेष्णीमाधवदासने भी इसका संग्रह 'गीतावली' के साथ सं० १६२८ में होनेका उल्लेख किया है । 'गीतावली' की रचना-तिथिके संबंधमें हम ऊपर विचार कर चुके हैं । यदि 'कृष्णगीतावली' को भी हम उसीके साथकी रचना मानें तो उसका रचना-काल सं० १६४८ के लगभग होना चाहिए । किंतु उसके भाषा-शैली, विषय-प्रतिपादन और सरसता आदिपर यदि हम ध्यान देते हैं तो 'कृष्णगीतावली' 'गीतावली' की अपेक्षा बीस ही ज्ञात होती है । उसकी भाषा-शैली 'गीतावली' की अपेक्षा कुछ अधिक परिमार्जित तथा प्रौढ़ है । संभव है विषय-वस्तुके उस समयतक मँज जानेके कारण, और व्रज-भाषा-शैलीके भी कृष्ण-चरित्रमें भलीभाँति रँग जानेके कारण ही 'कृष्णगीतावली' में यह परिमार्जन और प्रौढ़ता दीख पड़ती हो, किंतु एक और बड़ी विशेषता इस ग्रंथकी यह है कि यह

‘विनयपत्रिका’ में हनुमानकी स्तुति पदोंके अतिरिक्त पाँच स्तोत्रोंमें की गई है, और ये पाँच स्तोत्र ‘विनयपत्रिका’ की उपर्युक्त सं० १६६६ की प्रतिमें भी हैं। इन स्तोत्रोंमें भी इसीप्रकार हनुमानको शिवका अवतार कहा गया है—

जयति रनधीर रघुवीरहित देवमनि रुद्रअवतार संसार पाता ॥ २५ ॥
जयति मर्कटाधीश मृगराजविक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली ॥ ३६ ॥
जयति मंगलागार संसारभारापहर बानराकारविग्रह पुरारी ॥ २७ ॥
जयति बालार्क बरवदन पिंगल नयन कपिस कर्कश जटाजूधारी ॥ २८ ॥
राम पदपद्म मकरंद मधुकर पाहिं दासतुलसी सरन सूलपानी ॥ २९ ॥

‘विनयपत्रिका’ की सं० १६६६ की प्रतिमें संगृहीत पदोंका रचना-काल हमने ऊपर सं० १६२६-२६ माना है, अतः यह स्पष्ट है कि ऊपरके दोहोंकी रचना भी कदाचित् उन्हींके लगभग हुई होगी।

कविने ‘विनयपत्रिका’ के एक पदमें जो सं० १६६६ वाली प्रतिमें नहीं है जिसप्रकार ‘अधिभौतिक’ बाधा-द्वारा पीड़ित होनेपर शिवसे प्रार्थना की है, उसीप्रकार ‘दोहावली’ के निम्नलिखित दोहोंमें भी वह उनके दूर होजानेके संबंधमें अपने दृढ़ विश्वासका उल्लेख करता है—

तुलसी रघुवरसेवकहिं खल डाटत मन माखि ।
बाजराजके सेवकहिं लवा दिखावत आँखि ॥ १४४ ॥
पुन्य पाप जस अजसके भावी भाजन भूरि ।
संकट तुलसीदासको राम करहिंगे दूरि ॥ १४६ ॥

इन दोहोंकी रचना भी उपर्युक्त ‘अतिरिक्त’ पदकी भाँति कदाचित् सं० १६६७-६८ के लगभग हुई होगी।

‘दोहावली’ में रुद्रबीसीका भी उल्लेख हुआ है—

अपनी बीसी आपही पुरिहिं लगाए नाथ ।
केहि बिधि बिनती बिस्वकी करौ बिस्वके नाथ ॥ २४० ॥

रुद्रबीसीका समय सं० १६६२ से सं० १६८२ तक माना जाता है, और यह समय जहाँगीरके राज्य-काल (सं० १६६२ से सं० १६८४ तक) से लगभग पूरा मेल खाता है। काशीमें तो उस समय उत्पात मचा ही हुआ था, देशभरमें प्रबंध-शैथिल्यके कारण परिस्थिति शोचनीय थी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

बासर ढाकनि के ढका रजनी चहुँदिसि चोर ।
संकर निजपुर राखिए चितै सुलोचन कोर ॥ २३९ ॥

‘दिनमें डाकुओंके दल और रातमें चोरोंके समुदाय चारोंओर उपद्रव कर रहे हैं।’ सर टॉमस रोने, जो मुगल-दरबारमें सं० १६७२ में आया था, तत्कालीन शासनका जो वर्णन किया है, उसमें लिखा है कि यद्यपि देश सूबोंमें बँटा था, फिर भी प्रबंध शिथिल था, और फलतः शासन बहुत बुरा था; सूबोंके शासक स्वेच्छाचारी तथा अन्यायी हो गए थे और राजा बन बैठे थे; पदोंकी प्राप्ति के लिए न योग्यताकी आवश्यकता थी न अच्छे कुलकी; अधिकतर नीच व्यक्ति ही सम्राट् तथा सम्राज्ञी अथवा उच्च पदाधिकारियोंको किसीभाँति प्रसन्न करके ऊँचेसे ऊँचे पदपर पहुँच जाते थे।^१ ऐसी दशामें डाकुओं और चोरोंका बल बढ़ जाना स्वाभाविक था। अतएव, इन दोहोंकी रचना भी कदाचित् सं० १६७२ के लगभग हुई होगी।

‘दोहावली’ के तीन दोहोंमें गोस्वामीजीने बाहुपीड़ासे पीड़ित होकर उससे आग्रह पानेके लिए रामसे प्रार्थना की है—

तुलसी तनु सर सुख जलज भुजरुज गज बरजोर ।
 दलत दयानिधि देखिप कपि केसरीकिसोर ॥ २३४ ॥
 भुजरुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस ।
 बिहँगराज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥ २३५ ॥
 बाहुबिटप सुख बिहँगथलु लगी कुपीर कुआगि ।
 राम कृपाजल सीचिप बेगि दीनहित लागि ॥ २३६ ॥

—इन दोहोंकी रचना स्पष्टतः बाहुपीड़ाके दिनोंकी होगी, और बाहुपीड़ाका समय आगे सं० १६८० के लगभग ज्ञात गया है^२, अतः इन दोहोंकी रचना भी सं० १६८० लगभग हुई होगी।

गोस्वामीजीने स्वयं ‘दोहावली’ का संग्रह न किया होगा यह बहुत कुछ निश्चित है, क्योंकि उसके दोहोंमें तारतम्यका अभाव और उनके संकलन में सुरुचिकी न्यूनता इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हैं। ‘दोहावली’ का संग्रह गोस्वामीजीके किसी प्रेमी भक्त-द्वारा पीछेसे किया गया होगा, यह बहुत संभव है। इसमें जो दोहे अन्य ग्रंथोंसे संकलित हुए हैं उनमेंसे बहुतसे उच्च-कोटिके नहीं हैं; दूसरे, उनमें एक बड़ी संख्या ऐसे दोहोंकी भी है जो प्रसंगके हैं, और प्रसंगके बाहर जिनकी कोई संगति नहीं बैठ सकती—‘रामाज्ञा’ से जो दोहे लिए गए हैं उनमें से अधिकतर ऐसे ही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि संग्रहकार गोस्वामीजीका एक भक्त-मात्र था, और उसने अपने ही ऐसे भक्तोंके

^१ ईश्वरीप्रसाद, ‘दि हिस्ट्री ऑफ् मुस्लिम रूल इन इंडिया’, पृ० ५०४-५०५

^२ देखिए इसी निबंधमें ‘बाहुक’ का रचना-काल-विषयक विवेचन।

लिए—कदाचित् उन दोहोंको कंठस्थ रखने अथवा निरंतर उनका पाठ करनेके लिए—गोस्वामीजीकी समस्त कृतियोंमें से ग्रंथके लगभग आधे दोहे संकलित किए, और शेष अंशकी पूर्ति उनके अन्य प्राप्त दोहोंसे कर लो ।

वेणीमाधवदासने 'दोहावली' की संग्रह-तिथि सं० १६३६-४० मानी है—

दोहावलि संग्रह किये, चालिस संवत लाग ॥ ५४ ॥

सं० १६३६-४० तक तो 'सतसई' की भी रचना नहीं हो सकी थी, जिसके '१३१ दोहे 'दोहावली' में संगृहीत हैं; और हमने ऊपर देखा ही है कि लगभग जीवनांत तककी कविकी कुछ रचनाएँ 'दोहावली' में मिलती हैं, ऐसी दशामें वेणीमाधवदास-द्वारा ही हुई इसकी संग्रह-तिथि किसप्रकार मानी जासकती है, यह कहना कठिन है ।

बाहुक

कविने 'कवितावली' में किसी विषम-वेदनासे त्राण पानेके लिए शिवसे प्रार्थना की है, किंतु उसकी शान्तिका उसने उसमें कोई उल्लेख नहीं किया है ।^१ यह पीड़ा कदाचित् वात-विकारके कारण थी और कदाचित् इसीने धीरे-धीरे बाहु-पीड़ाका रूप धारण किया । 'दोहावली' में बाहुपीड़ा-उन्मूलनके लिए रामसे जो प्रार्थना की गई है, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । 'बाहुक' की रचना ही उसके उच्छेदनके लिए की गई थी ।

'बाहुक' में गोस्वामीजीने यह स्पष्ट लिखा है कि बाहु-पीड़ा वात-विकारके कारण थी—

वात तरमूल बाहुमूल कपिकच्छु बेलि

उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिये ॥ २४ ॥

यह पीड़ा निरंतर बढ़ती गई और औषधि तथा प्रयोग आदि सब निष्फल हुए । देवताओंसे प्रार्थनाएँ भी व्यर्थ हुईं—

अपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें

बढ़ी है बाहुवेदन कही न सहि जात है ।

औषधि अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए

बादि भए देवता मनाए अधिकान्ति है ॥ ३० ॥

यह पीड़ा उन्हें वर्षाञ्छतुमें हुई थी—और वात-विकारके लिए वर्षा-ञ्छतु से अधिक अन्य कोई समय कष्टकर नहीं होता, यह सभी जानते हैं—

^१ 'कवितावली', उत्तर० १६६ और १६७

घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों
 बासर जलद घनघटा धुकि धाई है ।
 बरसत बारि पीर जारिए जवासे जस
 रोष बिनु दोष धूममूल मलिनार्ह है ।
 करुनानिधान हनुमान महाबलवान
 हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजें तै उड़ाई हैं ।
 खायो हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि
 केसरीकिसोर राखे बीर बरियाई है ॥ ३५ ॥

बाबू शिवनंदनसहाय कहते हैं—‘इस कवितासे वेदनाकी क्षणिक निवृत्ति क्या सर्वथा निवृत्ति पाई जाती है’ । और ‘मूल गोसाईंचरित’ में बाहुपीड़ा और उससे नीरोग होनेका उल्लेख देखकर बाबू श्यामसुंदरदासने भी उसका समर्थन उपर्युक्त छंदकी अंतिम पंक्ति देकर किया है^१ । अंतिम पंक्तिका अर्थ कदाचित् इन मतोंमें यह लिया गया है कि ‘तुलसीको कुरोग-राक्षसों ने खा लिया था, किंतु हनुमानने उसकी रक्षा करली’ । किंतु पूरे छंदको पढ़नेपर यह विचार शुद्ध नहीं ज्ञात होता । पूरे छंदका अर्थ कदाचित् इसप्रकार होगा—

‘रोगोंने दुष्ट लोगों और दुष्ट योगों (ग्रहों) की भाँति घेर लिया है । दिनमें बादलोंकी सघन घटा बड़े वेगसे चढ़ी आती है, जलकी वर्षाके साथ मेरी पीड़ाका भी अंत उसीप्रकार वर दीजिए जैसे जवासे जल जाते हैं । यदि आप बिना अपराध ही मुझसे रूठ हैं, तो यह वैसा ही है जैसा अग्निमें मलिनताका होना (क्योंकि मलिनता धूममें होनी चाहिए, न कि धूम-मूल अग्निमें) । हे महाबलवान् हनुमान ! तूने देखकर, हँसकर, गर्जनवर और फूँकवर ही फौजें उड़ा दी हैं । (किंतु वास्तविक परीक्षा तो अब है,) तुलसी कुरोग-राक्षसों-द्वारा (लगभग) खाया जा चुका है, यदि तू उसे दबा ले तभी ऐ वीर केशरी-केशोर ! तेरी वीरता यथार्थ है !’ क्या छंद-भरमें कहीं भी यह आशय ज्ञात होता है कि हनुमानने बाहुपीड़ाका शमन कर दिया था ?

यह पीड़ा पहिले एक बाँह में ही हुई थी—

वेदन कुभाँति सो सही न जाति रात दिन
 सोई बाँह गही जो गही समीरडावरे ॥ ३७ ॥

किंतु धीरे-धीरे वह शरीरभर में फैल गई थी—

पाँय पीर मुँह पीर पेट पीर बाहु पीर
 जरजर सकल सरीर पीरमई है ॥ ३८ ॥

^१ ‘श्री गोस्वामी तुलसीदासजी’, पृ० १४२

^२ ‘नागरीप्रचारिणीपत्रिका’, भाग ७, अंक ४, पृ० ४०९

और, और पीछे शरीरभर में फोड़े निकल आए थे—

तार्ते तनु पेषियत घोर बरतोरमिस
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥ ४१ ॥

यह कुल वर्णन वात-विकार-जनित रुधिर-विकार सूचित करता है। शरीर-भरमें बरतोरके-से फोड़ोंका निकलकर निंतर बहते रहनेकी कल्पना-मात्र भयानक है, फलतः गोस्वामीजीको जितनी पीड़ा इससे रही होगी वह कल्पनातीत है। उनकी दशा कुछ दिनतक सुधरी नहीं, और संभवतः उसीके कारण उनके मनसे देवताओंकी ओरसे विश्वास उठ गया था। मृत्युकी आशंका उन्हें होने लगी थी, फिरभी उन्हें रामका भरोसा शेष था—

जीवौ जग जानकीजीवन को कहाइ जन
मरिबेको बारानसी बारि सुरसरिको।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसे ठाउँ
जाके जिए मुए सोच करिहैं न लरिको।
मोको भूठो साँचो लोग रामको कहत सब
मेरे मन मान है न हरको न हरिको।
भारी पीर दुसह सरीरते बिहाल होत
सोऊ खुबीर बिनु सकै दूरि करि को ॥ ४२ ॥

इस समय गोस्वामीजीके नेत्रोंके आगे हनुमान, राम और शिवका ध्यान था; वे अपने तीनों इष्टदेवोंसे एकबार फिर बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें पीड़ाके शमनके लिए प्रार्थना करते हैं—

कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ
रोगसिंधु बर्यो न डारियत गाय खुर कै ॥ ४३ ॥

किंतु अंतमें उन्हें कदाचित् निराश ही होना पड़ता है, और वे नीचेके छंदके साथ 'बाहुक' समाप्त करते हैं—

कहाँ हनुमानसों सुजान रामरायसों
कृपानिधान संकरसों सावधान सुनिए।
हरष विषाद राग रोष गुन दोषमई
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए ॥
माया जीव कालके करमके सुभायके
करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिए।
तुमते कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहिं
हौ हूँ रहौ मौन हूँ बयो सो जानि लुनिए ॥ ४४ ॥

गोस्वामीजीको यह पीड़ा, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वर्षाश्रुतुमें हुई थी, और श्रावण मासमें उनका देहांत होना माना ही जाता है। इस पीड़ाकी शांतिका कोई

उल्लेख हमें 'बाहुक' अथवा 'कवितावली' के छंदोंमें नहीं मिलता। संभव है बाहुपीड़ा सं० १६८० के किसी प्रारंभिक मासमें प्रारंभ हुई हो और श्रावण मासमें उसीसे उनका देहांत हुआ हो। यदि हम बाहुपीड़ासे ही गोस्वामीजीका देहांत मानें, तो 'बाहुक' के छंदोंका रचना-काल सं० १६८० होता है। किंतु बाहुपीड़ाका समय अन्य प्रकारसे नितांत निश्चित नहीं है। अभी इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि बाहुपीड़ा गोस्वामीजीके अंतिम दिनोंमें हुई थी।^१ फलतः यह निस्संदेह है कि 'बाहुक' गोस्वामीजीकी निरी अंतिम रचनाओंमें से है।

कुछ लोगोंने बाहुपीड़ाको प्लेगकी गिरदी माना है। किंतु, महामारीकी शांतिका स्पष्ट उल्लेख 'कवितावली' के अंतिम छंदमें हुआ है। महामारी अधिकतर चैत्रतक ही शांत हो जाती है। वह अधिकसे अधिक वैशाखतक जा सकती है—ज्येष्ठमें भी वह कदाचित् ही कहीं सुनी जाय। फिर, श्रावणमें प्लेगसे मृत्यु हो यह कम संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त, 'बाहुक' के वर्णनसे प्लेगका एक भी लक्षण प्रकट नहीं होता^२, और पूरे वर्णनको पढ़नेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पीड़ा कई दिनोंतक, कदाचित् एकाध महीनेतक, बनी रही, जबकि प्लेगसे दो तीन दिनमें ही शरीरांत होजाता है। ऐसी दशामें यह कल्पना निराधार-सी लगती है कि गोस्वामीजीकी मृत्यु प्लेगसे हुई।

✓ कवितावली

('कवितावली' एक स्फुट-काव्य-ग्रंथ है, और इसमें अंतिम-प्रयाणतक का एक छंद है, इसलिए अधिक संभावना इस बातकी है कि इसका संग्रह गोस्वामीजीके देहांतके उपरांत हुआ हो। इसप्रकार, एक ओर सं० १६८० तककी रचना इसमें है, दूसरी ओर वेणीमाधवदास लिखते हैं कि गोस्वामीजी ने सं० १६२८ में सीताबटके नीचे कुछ सुंदर कवित्तोंकी रचना की।^३ 'कवितावली' के तीन छंदोंमें सीताबटकी प्रशंसा अवश्य कीगई है^४, जिससे यह संभव प्रतीत होता है कि कदाचित् उनकी रचना सीताबटके नीचे हुई हो। किंतु, उनके रचना-कालपर

^१ देखिए लेखकका 'कवितावली और तुलसीदासके अंतिम दिन' शीर्षक निबंध।

^२ बाबू शिवनंदनसहाय लिखते हैं ('श्रीगोस्वामी तुलसीदास', पृ० १४२) —

'प्लेगकी बीमारीमें जहाँ तक देखा जाता है और जहाँ तक हमें डाक्टरों से ज्ञात हुआ है रोगके आक्रमणके साथ या थोड़े ही काल पछे हृदय तथा मस्तिष्क दुर्बल होने लगता है, बुरे प्रकारका प्लेग होनेसे मानुष्य शीघ्र ही संज्ञा-शून्य भी हो जाता है। तब यह आश्चर्य की बात है कि 'बाहुक' ऐसी उत्कृष्ट रचना हो।'

^३ 'मूल गोसाईंचरित' दो० ३५

^४ 'कवितावली', उत्तर०, १३८ १३९ और १४०

इस पूरे समयको तीन—पूर्व, मध्य, तथा उत्तर—कालोंमें विभाजित कर लेनेमें सुभीता होगा —

(क) पूर्व रचना-काल—सं० १६११ से सं० १६३० तक ।

(ख) मध्य ” ” —सं० १६३१ से सं० १६४५ तक ।

(ग) उत्तर ” ” —सं० १६४६ से सं० १६८० तक ।

पूर्व रचना-काल—‘रामललानहछू’, ‘जानकीमंगल’, ‘रामाज्ञा’, तथा ‘वैराग्यसंदीपिनी’;

मध्य रचना-काल—‘रामचरितमानस’, ‘सतसई’, ‘पार्वतीमंगल’, ‘गीता-वली’ तथा ‘कृष्णगीतावली’; और

उत्तर रचना-काल—‘विनयपत्रिका’, ‘बरवै’, ‘दोहावली’, ‘बाहुक’ तथा ‘कवितावली’ ।

इन ग्रंथोंपर हम छंद, प्रबंध, शैली, बुद्धि-तत्व, हृदय-तत्व तथा आत्म-तत्त्वकी दृष्टियोंसे विचार करेंगे, किंतु सुविधाके लिए रचनाकाल-विभाजनके अनुसार चलेंगे ।

पूर्व रचना-काल—‘रामललानहछू’ में सोहर छंदका प्रयोग हुआ है, किंतु वह ग्रामीण है और अपने वास्तविक रूपमें है । ‘जानकीमंगल’ में भी वह छंद व्यवहृत हुआ है, किंतु हरिगीतिका छंदकी सहायतासे उसे बहुत कुछ साहित्यिक रूप मिल गया है, और इसप्रकार वह विवाहादि-संबंधी खंड-काव्यमें प्रयुक्त होनेके उपयुक्त बन गया है । ‘रामाज्ञा’ में दोहोंका प्रयोग किया गया है, और ‘वैराग्यसंदीपिनी’ में भी, किंतु ‘वैराग्यसंदीपिनी’ में दोहोंके बीच-बीच सोरठोंका भी प्रयोग हुआ है, जो विश्रामस्थल-निर्माणकी ओर प्रयास-सा जान पड़ता है । ‘वैराग्यसंदीपिनी’ में दोहे और सोरठके साथ चौपाईयोंका भी प्रयोग किया गया है, किंतु वह बहुत विषम है । इन छंदोंका सामंजस्य ‘वैराग्यसंदीपिनी’ में नहीं हो सका है ।

प्रबंधकी दृष्टिसे ‘रामललानहछू’ एक बहुत छोटा प्रबंध-काव्य होते हुए भी जितना सदोष है, उतना अन्य कोई नहीं । ‘जानकीमंगल’ भी ‘रामललानहछू’ के ढंगका काव्य है, किंतु उसमें प्रबंध-दोष एक भी नहीं है । ‘रामाज्ञा’ में विचारणीय प्रबंध-दोष अवश्य आगया है । प्रबंधकी दृष्टिसे उसकी पहली श्रुति यह है कि पहले सर्गकी पूरी कथा चौथे सर्गमें दुहराई गई है, फिर भी चौथे सर्गमें वह उतनी सुंदर नहीं बन पड़ी है जितनी पहलेमें । चौथे सर्गका संबंध आगे-पीछे-वाले सर्गोंसे नितान्त नहीं है । ‘रामाज्ञा’ में यह श्रुति संभव है उसे सात सर्गोंमें पूरा करनेकी अनिवार्य आवश्यकताके कारण प्रागई हो—क्योंकि संभव है एक बार रामकथा कह डालनेपर वह छः सर्गोंमें ही समाप्त होगई हो और शकन की

दृष्टिसे सात सर्गोंका निर्माण अनिवार्य रहा हो, इसलिए कविने पुनः रामकथा उठाई हो, और एक सर्गमें वह उतनी ही आसकी हो जितनी वह चौथे सर्गमें है। यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि उसे आदि अथवा अंतमें न रखकर मध्यमें गोस्वामीजीने क्यों रक्खा। आदिमें रखना तो कदाचित् ठीक न होता, क्योंकि उसको प्रथम सर्गके साथही पढ़नेपर बुरी पुनरावृत्ति होती, और अंतमें रखनेपर कथाकी समाप्ति न हो पाती, और एक बार पूरी कथाका समावेश हो जानेपर भी ग्रंथ अधूरा-सा लगता। कदाचित् इसीलिए इस सर्गको गोस्वामीजीने बीच-बीच रक्खा। 'रामाज्ञा' में प्रबंधकी दृष्टिसे एक दूसरी त्रुटि यह है कि उसमें रामकथा तथा शकुन-विचारका अनमेल विवाह है—दोनोंको प्रकृति नितांत भिन्न होते हुए भी दोहेकी पहिली पंक्ति रामकथाका कोई अंश कहती है और दूसरी शकुनकी सूचना देती है। किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' में ऐसी त्रुटियाँ नहीं हैं। उसका विषय भी एक वैराग्य-मात्र है और वह 'रामाज्ञा' की भांति विभाजित नहीं है। फिर भी उसके प्रबंधमें कोई चातुर्य नहीं है। पूरा विषय संत-स्वभाव, संत-महिमा, तथा शांति-वर्णन-नामक तीन शीर्षकोंमें किसी प्रकार खपा दिया गया है।

शैलीकी दृष्टिसे भी 'रामललानहछू' का स्थान सबसे नीचा है। उसकी भाषा ग्रामीण तथा अलंकार-विहीन अवधी है। भावोंके व्यक्तीकरण भी उसमें भदे ढंगपर हुए हैं। 'जानकीमंगल' की शैली उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ है, उसकी भाषा भी बहुत कम ग्रामीण, साधारण अलंकारोंसे युक्त, और कुछ साहित्यिक अवधी है, और वह भावोंको व्यक्त करनेके लिए लगभग पर्याप्त हुई है। 'रामाज्ञा' की शैली अधिक काव्योचित और परिष्कृत है। दो विषयोंका समावेश अनिवार्य होनेके कारण उसमें शिथिलता अवश्य आगई है, फिर भी काव्य-भाषाकी ओर प्रगति उसमें परिलक्षित होती है। 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा'-वाली बाधा न होते हुए भी विषयका प्रतिपादन विवेचनात्मक होनेके कारण शैलीके दृष्टि-बोणसे सफलता कम मिली है। उसमें जिस शैलीके निर्माणकी ओर प्रयोग किया गया है वह विकसित होनेपर महाकाव्यमें प्रयुक्त हो सकती थी, और हुई भी है।

पूर्वकालीन रचनाओंमें बुद्धि-तत्त्व अप्रस्फुटित है। न उनमें विचारोंकी सूक्ष्मता मिल सकती है और न भावद्वंद। उनमें महाकविकी प्रतिभा अंधेरेमें अपना मार्ग ढूँढ़ रही है।

हृदय-तत्त्व और उसके नाते 'रामललानहछू' में शृंगार-मात्र है, और वह भी निम्न-कोटिका—परकीया अनुरक्तिके सामने आदर्श-व्युक्तिका ध्यान नहीं

रखवा गया है। परिहास भी उसमें अशिष्ट है। 'जानकीमंगल' में भी यद्यपि शृंगार-रस प्रधान है, किंतु वह निम्न-कोटिका नहीं है—न उच्च-कोटिका ही—वह मध्यम-कोटिका है और 'रामललानहछू' के दोषोंसे मुक्त है। 'रामाज्ञा' में तो कोई रस ही नहीं है—उसके शकुन-विचारने सबपर पानी फेर दिया है। 'वैराग्य संदीपिनी' में शांतरस अवश्य है, किंतु उसमें उस रसके आलंबन, उद्दीपन, आश्रय आदिका विवेचन होनेके कारण वह एक लक्षण-ग्रंथ-सा हो गया है, और रस-परिपाक विषयकी शुष्कताके कारण उसमें नहीं हो सका है।

आत्म-तत्त्व भी दृष्टिसे पूर्व रचना-काल की कृतियोंमें केवल 'रामाज्ञा' का सप्तम सर्ग और 'वैराग्यसंदीपिनी' ही विचारणीय हैं, अन्य नहीं। 'रामाज्ञा' में, 'वैराग्यसंदीपिनी' की अपेक्षा यह तत्त्व बहुत कम है। 'वैराग्यसंदीपिनी' का तो विषय ही आत्म-तत्त्वसे संबंध रखता है, और उसमें वास्तविक आत्म-संदेश अवश्य है।

मध्य रचना-काल—इस कालका प्रारंभ ऊपर सं० १६३१ से हुआ माना जा चुका है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि तुलना करनेपर पूर्व रचना-कालकी कृतियों से इस कालकी कृतियोंमें कोई क्रांति परिलक्षित होती है, फिर भी दोनों की कोटियों में इतना अंतर अवश्य है कि कविकी प्रांतभाके विकासकी प्रगति द्रुत रही यह निर्विवाद जान पड़ता है।

('रामचरितमानस' की रचना दोहों, चौपाइयों, सोरठों और हरिगीतिका छंदोंमें अधिकांश हुई है, अन्य छंद इनकी तुलनामें नगण्य हैं। यद्यपि गोस्वामीजीने तत्त्वतः 'मानस' में उसी परिपाटीका व्यवहार किया है जिसको हिंदीके सूफ़ी कवि पहले ही अच्छी तरह भाँज चुके थे, किंतु गोस्वामीजीने उसमें चमक पैदा कर दी है) छंदोंकी दृष्टिसे भी दोहा-चौपाईके अतिरिक्त हरिगीतिका यदि अन्य छंदोंके यत्र-तत्र प्रयोगसे उसमें अधिक साहित्यिकता आ गई है और उसमें मसनवी-पन नहीं घुसने पाया है। जायसीके 'पद्मावत' को, जो अन्य सूफ़ी कथानकोंसे अधिक सफल हुआ है पढ़नेपर थकावट-सी लगने लगती है। इसका सबसे बड़ा कारण कदाचित् उसमें दो ही छंदोंका एक-सा व्यवहार है। उसमें गिनती के दो ही छंद प्रयुक्त हुए हैं—दोहा और चौपाई। किंतु, गोस्वामीजीने 'मानस' में इस त्रुटिको भलीभाँति दूर कर दिया है) 'सतसई' की रचना केवल दोहोंमें हुई है, और वे 'रामाज्ञा' और 'वैराग्यसंदीपिनी' दोनोंके दोहोंकी अपेक्षा अधिक सफल भी हुए हैं। 'पार्वतीमंगल' के छंदोंमें 'जानकीमंगल' के छंदोंकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' में अवश्य छंदोंका चुनाव नया हुआ है—अभीतक गोस्वामीजीने पदोंमें कोई ग्रंथ नहीं प्रस्तुत किया था—किंतु उसमें कोई मौलिकता नहीं है। मीराबाई, कबीर आदिने तो पदोंमें

रचना की ही थी, सूरदासने पदोंमें 'सूरसागर'-ऐसे बड़े और सफल काव्य-ग्रंथ-की रचना करके 'गीतावली' की रचनाके बहुत पूर्व यह सिद्ध कर दिया था कि पदोंमें काव्यका आदर्श उपस्थित किया जासकता है। और इसमें संदेह नहीं कि पद-रचनामें जो सफलता सूरदासको मिल सकी उसे दूसरे कवि न प्राप्त कर सके।

(प्रबंधकी दृष्टिसे 'मानस' की सफलता इस कोटितक पहुँची है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्योंमें भी उसको स्थान दिया जाता है। शिथिलताका तो उसमें तो नाम भी नहीं है—प्रत्येक कथांशने अपनी आवश्यकताभर विस्तार पाया है, न कम न अधिक। केवल 'मानस' गोस्वामीजीको महाकवियोंमें आसन देनेके लिए पर्याप्त है) 'सतसई' भी एक प्रबंध-काव्य है—सात अध्यायोंमें विभिन्न विषयोंका एक तारतम्यके अनुसार प्रतिपादन किया गया है। 'पार्वतीमंगल' एक अच्छा-सा खंड-काव्य है। 'गीतावली' की गणना गीतिकाव्योंमें कीजानी है, किंतु यह उसकी अपेक्षा कथाकाव्य ही अधिक है। 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली', दोनों स्फुट-काव्य-ग्रंथ हैं, किंतु दोनों में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उस स्थलके कुल या कमसे कम अधिकतरपदोंकी रचना उसी क्रममें हुई होगी जिसमें वे संगृहीत हैं। 'गीतावली' के कुछ प्रसंगोंने अनावश्यक विस्तार पाया है—उदाहरणार्थ रामके पथिक-वेशका वर्णन ('गीतावली', अयोध्या०, पद १५ से ४२ तक)। 'कृष्णगीतावली' में यह दोष नहीं है, उसके किसी प्रसंगने अनावश्यक विस्तार नहीं पाया है। प्रबंधकी दृष्टिसे 'कृष्णगीतावली' की सफलता अपूर्व है। गीतोंमें इतना सुंदर प्रबंध अन्यत्र कदाचित् ही मिलेगा।

(शैलीकी दृष्टिसे भी 'मानस' मध्यकालीन रचनाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। अवधी रूपोंमें कुछ संस्कृत शब्दोंके सम्मिश्रणसे गोस्वामीजीने एक अत्यंत सफल काव्य-भाषाका निर्माण 'मानस' में किया है। 'मानस' का शब्द-भंडार दार्शनिक विवेचन, भक्ति-भावना-व्यक्तीकरण, नवरस-परिपाक, सूक्ष्म मनोविज्ञान-मय विचार-विश्लेषण, कथा तथा वस्तु-वर्णन, और लौकिक तथा अलौकिक वातावरण-निर्माण, सभीके लिए यथेष्ट हुआ है। वस्तुतः 'मानस' की शैली एक आदर्श शैली है—प्रत्येक शब्द अपनी स्थितिपर दृढ़ है। भावों के साथ भाषाका उसमें अपूर्व सामंजस्य हुआ है—न कहीं शिथिलता है और न दुरुहता; सरसता प्रचुर है; सुबोधता तो इतनी है कि साधारण योग्यताके पाठक और बड़ेसे बड़े पंडित दोनों रामकथाका आनंद उठाते हैं) 'सतसई' की शैली प्रौढ़ अवश्य है, और कुछ विभिन्न विषयोंके प्रतिपादनमें वह सफलतापूर्वक प्रयुक्त भी हुई है, किंतु न वह इतनी सरस है, और न इतनी व्यापक, कि उत्कृष्ट काव्य-रचनाके उपयुक्त

हो। उसमें वह पूर्णता नहीं है जो किसी शैलीको एक आदर्श शैली बना देती है। 'पार्वतीमंगल' की शैली निरी माध्यमिक है—उसमें न शिथिलता है और न प्रौढ़ता। शब्दोंका सुव्यवस्थित प्रयोग उसमें अवश्य हुआ है, जिससे उसमें एक धारा-सी लक्षित होती है। भाषा भावों की समकक्ष है, और वह केवल पर्याप्त हुई है। उसमें सरसता विशेष नहीं है, फिर भी प्रसादगुण पर्याप्त है। भिन्न-भिन्न विषयोंमें उसका प्रयोग असंभव है, अतएव उसमें व्यापकता भी नहीं है। एक सामान्य शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है। 'गीतावली' की शैली भी स्पष्ट ही माध्यमिक है। एक परिष्कृत व्रजभाषाका शब्द-भंडार यथेष्ट हुआ है। भाषा भावों की सह-गामिनी है। उसमें प्रसादगुण विशेष है। शैली पूरे ग्रंथभरमें लगभग एक-सी है, और उसमें सरसता भी है, किंतु गीतिकाव्यकी शैली इससे कुछ भिन्न होती है। 'गीतावली' की शैलीसे रचना-प्रयास परिलक्षित होता है—गीतिकाव्योंके अनियंत्रित उद्गारों के व्यक्तीकरणमें यह कहाँ संभव है ? 'कृष्णगीतावली' की शैली 'गीतावली' की शैलीकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रौढ़ और अधिक स्वाभाविक अवश्य है, यद्यपि विशेष नहीं। कदाचित् इसका कारण कविका स्वयं उस शैलीमें कुछ अभ्यस्त होजाना हो, किंतु 'कृष्णगीतावली' की रचनानक्ष बड़े-बड़े कवियों द्वारा उसीकी शैलीमें इतना बड़ा साहित्य उपलब्धतापूर्वक पिसित होचुका था, और कृष्ण-चरित्रके संबंधमें व्रजभाषाका शब्द-भंडार इतना पूर्ण हो चुका था, कि यदि 'गीतावली' की अपेक्षा उनमें इस कारण भी विशेषता दिखाई पड़ती हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। वस्तुतः 'कृष्णगीतावली' की शैलीमें मौलिकता नहीं है—क्या शब्द-भंडार और क्या विषयको प्रस्तुत करनेका ढंग, सबी एक रूढ़िकी उपज जान पड़ते हैं।

(बुद्धि-तत्त्वकी दृष्टिसे 'मानस' का स्थान तुलसी-ग्रंथावलीमें सबसे ऊँचा है। उसकी रचनाके लिए गोस्वामीजीने कमसे कम २० बड़े ग्रंथोंका सम्यक अध्ययन किया था, और 'मानस' में यथा-स्थान उनसे कुछ अंश ग्रहणकर बड़ी सार-ग्राहिताका परिच्छेद दिया है। चरित्र-चित्रण 'मानस' की सबसे प्रधान वस्तु है, और इसमें संदेह नहीं कि चरित्र-निर्माणमें ही गोस्वामीजीने सबसे अधिक मौलिकता दिखाई है। विचारोंका तो 'मानस' अथाह समुद्र है, जिसमें कितने ही विद्वान् भी आजीवन निरंतर-आनंदपूर्व अवगाहन करते हैं। मनोविज्ञान-नय सूक्ष्म विचार-विश्लेषण, भावद्वंद तथा जीवनकी अनेक परिस्थितियोंके समावेश, सभी 'मानस' में कविके बुद्धि-तत्त्वकी एक अद्भुत ज्योतिका समर्थन करते हैं) 'सतसई' में ऐसी कोई विशेषता नहीं है। दार्शनिक तत्त्वोंका प्रतिपादन उसमें पूर्ण और परिपक्व अवश्य है, किंतु अन्य दृष्टियोंसे उसका बुद्धि-तत्त्व बहुत उच्च

कोटिका नहीं है। उपदेशों और राजनीतिके दोहोंमें अनुभव झलकता है। किंतु तीसरे सर्गमें लगभग एक सौ टेढ़े-मेढ़े दृष्टिकृत दोहों-द्वारा रामनामका जो उपदेश किया गया है वह दिमागी कसरतके अतिरिक्त किसी दृष्टिसे महत्वपूर्ण नहीं है। इन प्रयासोंसे रामनाममें अनुराग उत्पन्न होना तो दूर, अरुचि उत्पन्न होनेका भय ही विशेष है। 'पार्वतीमंगल' तथा 'गीतावली' में गोस्वामीजीकी विचार-शीलताका परिचय अवश्य मिलता है, और उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'कृष्णगीतावली' में मौलिकता नहींके बराबर है, इसलिए उसमें बुद्धि-तत्त्वको ढँढ़नेका प्रयास निरर्थक होगा।

(हृदय-तत्त्वकी दृष्टिसे भी विचार करनेपर 'मानस' माध्यमिक रचनाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। 'मानस' में नवरस-परिपाक बड़ी उत्तमताके साथ हुआ है। सौंदर्य-की भावना उसमें स्थान-स्थानपर मिलती है) 'सतसई' में न कोई रस है, और न सौंदर्य। 'पार्वती-मंगल' में भी रसकी मात्रा साधारण है। 'गीतावली' कहने-को तो गीतिकाव्य है, किंतु वर्णन—कथावर्णन और वस्तुवर्णन—ने उसे वास्तविक गीतिकाव्य कहे जानेके अयोग्य बना रक्खा है। पूरे ग्रंथका लगभग तीन-चौथाई भाग वर्णनने ले लिया है, और केवल शेष एक-चौथाईके लगभगमें रसका परिपाक हो सका है, वह भी केवल वात्सल्य और करुणरसोंतक सीमित है। फिर भी काव्यकी दृष्टिसे यह अंश निस्संदेह उत्कृष्ट है। 'कृष्णगीतावली' सरसतामें 'गीता-वली' की अपेक्षा कुछ आगे अवश्य है, किंतु इस सरसतामें भी मौलिकता कदाचित् बहुत कम है।

(आत्माका संदेश 'मानस' में प्रचुरतासे मिलता है। उसके पढ़नेके अनंतर अर्गाणित मनुष्योंने पाप-प्रवृत्तिसे त्राण पाया है। उत्तरी भारतमें करोड़ों मनुष्यों—स्त्री पुरुषों—का यही एकमात्र धर्म ग्रंथ है। कुछ लोगोंका तो यह अनुमान है कि विलायतमें वहाँकी जनताके जीवनपर जितना प्रभाव इंग्लैंड का है, और उसमें उसका जितना प्रचार तथा आदर है, उत्तरी भारतमें 'मानस' उससे भी अधिक जनताके जीवनका अंग हो गया है। आबाल वृद्ध-बनिता सभीको इसने अनेक परिस्थितियोंमें शांतिप्रदान की है। इसमें तो संदेह नहीं कि 'मानस' की रचना करके गोस्वामीजीने हिंदू-जाति और, भारतीय संस्कृतिको इस्लामकी धारामें वह जानेसे बचा लिया, आज और भी वे 'मानस'-द्वारा उसकी रक्षा करते हुए हमारे बीच अमर हैं। यदि सच पूछा जाय तो उत्तरी भारत का हिंदू-धर्म 'मानस' की भावनाओंसे ही अनुप्राणित है) 'पार्वतीमंगल' में आत्म-तत्त्व साधारण है। 'सतसई' में वह यथेष्ट है। किंतु, 'गीतावली' में उसकी मात्रा थोड़ी है और 'कृष्णगीतावली' में साधारण रसोंके

संदेश नहीं है। यह अवश्य है कि गोस्वामीजीने राम और कृष्ण दोनों चरित्रोंका गानकरके दोनों अवतारोंकी एकताका अनुमोदन किया है।

(उत्तर रचना-काल—मध्यकालीन रचनाओंमें जो स्थान 'मानस' का है, उत्तरकालीन रचानाओंमें वही स्थान 'विनयपत्रिका' का है) छंद उसके वे ही हैं जो 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' के हैं, किंतु 'विनय' के पदोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेपर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि मानों इस बातका अनुभव कर रहा हो कि उसने उक्त छंद-रचना-प्रणालीपर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है—कदाचित् इस कारण भी 'विनयपत्रिका'की छंद-रचना कुछ दुरुह हो गई है। 'बरवै' में प्रयुक्त छंद बरवै है, जो गोस्वामीजीको रहीमसे मिला। छंदमें गोस्वामीजीने कोई सुधार नहीं किया है, यद्यपि विषयमें उन्होंने अवश्य किया है। 'कवितावली' में कवित्त, सवैया, तथा घनाचरी छंदोंका ही प्रयोग प्रधान है, यद्यपि यत्र-तत्र छप्पय, झूलना, आदि छंदोंका भी प्रयोग हुआ है। इसके छंद गोस्वामीजीको कदाचित् उन समसामयिक कवियोंसे मिले थे जो रीतिकालकी नींव डाल रहे थे। यद्यपि नरोत्तमदासने उनका शृंगारके अतिरिक्त एक दूसरे क्षेत्रमें सफलतापूर्वक प्रयोग गोस्वामीजीके पहले ही किया था, फिर भी वे अधिकतर शृंगारपूर्ण वर्णनों तथा नायिका-भेदके उदाहरणोंतक सीमित थे। गोस्वामीजीने उनके लिए नया क्षेत्र खोला। उन्होंने उन्हें 'कवितावली' में रामकथाका माध्यम तो बनाया ही, आगे चलकर उसीके उत्तरकांडमें उन्हें विनयका भी माध्यम बनाकर और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीं कारणोंसे 'कवितावली' का स्थान उसके रीतिकालकी शैलीपर एक रचना होते हुए भी बहुत उच्च है। 'दोहावली' की छंद-रचना पूर्व तथा मध्यकालीन दोहोंसे अभिन्न है। 'बाहुक' के छंद वे ही हैं जो 'कवितावली' के हैं, और उनका प्रयोग भी 'कवितावली' के उत्तरकांडके अंतिम छंदोंकी भाँति किया गया है।

उत्तरकालीन रचनाओंमें सभी स्फुट रचनाएँ हैं। 'विनयपत्रिका' के दो संस्करणोंका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन दोनोंमें पदोंके जो क्रम हैं उन्हें मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विनयपत्रिका' को प्रबंध-काव्य कहना असंभव है। न तो सं० १६६६ की प्रतिमें पदोंका कोई क्रम है और न 'विनयपत्रिका' में, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न देवताओंसे विनयके पद दोनोंमें विभिन्न समूहोंमें एक-साथ संग्रह किए गए हैं। 'बरवै' स्पष्ट ही एक स्फुट-काव्य है। उसके अधिकतर छंद कथा-क्रमके अनुसार संगृहीत हैं, और शान्तरस-विषयक छंद उसके उत्तरकांडमें रख दिए गए हैं। 'दोहावली' में आधेसे कुछ कम दोहे पूर्वर्चित ग्रंथोंसे संकलित हैं, किंतु न इनमें कोई क्रम है न तारतम्य, दोहोंका चुनाव भी

एक साधारण श्रेणीकी रुचिका परिचायक है। ग्रंथके शेष दोहे उन्हींके साथ बीच-बीचमें मिला दिए गए हैं। किंतु इन नवीन दोहोंमें कुछ ऐसे भी हैं, जो गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें से हैं। उत्तरकालीन ग्रंथोंमें 'बाहुक' का एक मुख्य स्थान है। प्रबंधकी दृष्टिसे 'बाहुक' उत्तरकालीन रचनाओंमें कदाचित् सबसे अधिक क्रम-बद्ध है। यद्यपि इसका संपादन कदाचित् गोस्वामीजीने न किया होगा, फिर भी यह सुसंपादित है। 'कवितावली' भी स्फुट काव्य है, और उसमें भी 'बरवै' की भाँति उत्तरकांडमें शांतरसके छंदोंका संग्रह है, किंतु वह इतना बड़ा है कि ग्रंथका आधेसे अधिक विस्तार उरुने ले लिया है। कवितावली की एक दूसरी विशेषता यह है कि उसके अंतिम छंदोंमें गोस्वामीजीने अपने जीवनके अंतिम वर्षोंका अच्छा विवरण दिया है—उनके जीवनपर प्रकाश डालनेके लिए ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि कोई भी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। 'कवितावली' तथा 'बाहुक' दोनों मिलकर गोस्वामीजीके अंतिम १५ वर्षोंके लगभगकी जीवनीके लिए बहुत ही पूर्ण, और कदाचित् सबसे अधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

(शैलीकी दृष्टिसे यह कहना होगा कि गोस्वामीजीकी उत्तरकालीन रचनाएँ अन्य रचनाओंसे अधिक परिपक्व तथा प्रौढ़तर हैं। 'विनयपत्रिका' के विषयमें यह अक्षरशः सत्य है कि भाव दौड़में भाषासे कहीं आगे बढ़ जाते हैं, और एक ही भाषाका शब्द-भंडार पर्याप्त नहीं होता—'विनयपत्रिका' को गोस्वामीजीकी अन्य सभी रचनाओंकी अपेक्षा कठिनतर माननेका यह प्रमुख कारण है। 'बरवै' की भाषा ठेठ अवधी होते हुए भी कितनी प्रौढ़ ललित है, यह किस रसिक से छिपा नहीं है—थोड़ेसे शब्दोंमें पूरा रसका भंडार है। 'कवितावली' की शैली बड़ी प्रशस्त है। रसोंके अनुकूल उसमें यथास्थान परिवर्तन होते हुए भी वह प्रसादगुण-पूर्ण है। उसकी धारा सरल है, और उसमें साधुर्य बहुत अधिक है। और शब्दोंका गठन इतना प्रशंसीय है कि उनमें से एक भी निकालने की बात दूर, वह कदाचित् इधरसे उधर नहीं किया जा सकता। 'दोहावली' की शैलीके विषयमें यही कहा जा सकता है कि उसमें कोई नवीनता नहीं है। किंतु, 'बाहुक' की शैली बड़ी ही बलवती है—यंत्रणाकी जैसी तीव्र व्यंजना 'बाहुक' के छंदोंमें है वह उसका एक यथातथ्य चित्र खींच देती है।

(गोस्वामीजीकी अंतिम रचनाओंमें बुद्धि-तत्व गौण है—प्रमुख हैं हृदय-तत्व और आत्म-तत्व। सच्ची अनुभूतिकी जितनी तीव्र व्यंजना और हृदयका जैसा अनियंत्रित उद्गार 'विनयपत्रिका' में है उसके आधारपर इसका स्थान गीतिकाव्यकी उच्चतम कक्षामें है। 'बरवै' के उत्तरकांडमें यद्यपि दिव्य आत्माका

संदेश है, किंतु शेषमें कविके सुंदर हृदयका ही परिचय मिलता है। अवस्था-वृद्धि-के साथ अंतिम कालकी रचनाओंमें से यद्यपि सभीमें कालकी आगे आती हुई प्रतिच्छायाकी ओर आकस्मिक संकेत मिल जाता है, किंतु उसका स्पष्ट आभास हमें 'दोहावली' और 'बाहुक' में मिलता है। जैसी करुणा और जितना दैन्य 'दोहावली' के कुछ दोहोंमें जो पहलेकी रचनाओंसे संकलित दोहोंके अतिरिक्त हैं, तथा 'बाहुक' के छंदोंमें मिलता है, उसके अधिकांशका श्रेय इसी विभीषिकाको है। इन निर्रा अंतिम रचनाओंमें आत्माका संदेश पाना कठिन है। 'बाहुक' के अंतिम छंदोंमें देवताओंके ऊपर जो अविश्वास तथा हनुमान, राम तथा शिवसे सहायता और रक्षा न कर सकने का स्पष्ट उत्तर माँगनेकी प्रवृत्तियाँ हैं, वे बाहुपीडाकी असहनीय यंत्रणाके कारण हैं। इस प्रकारका विश्वास-शैथिल्य नैराश्य-जनित है। ('कवितावली' में लंकाकांडतक अवश्य महा-कविकी सहृदयता और उसकी सुकुमार भावनाओंकी प्रचुरता मिलती है, किंतु उसके उत्तरकांडमें उनका स्थान आत्म-तत्व ले लेता है और कला दब जाती है। 'कवितावली' का अंतिम अंश जिसमें सहामारी आदिका वर्णन है पुनः एक महाकविकी प्रतिभाकी ओर संकेत करता है; यहाँपर वर्णन बड़ा ही सजीव है, और वह कविके सहानुभूतिपूर्ण हृदयका द्योतक है। उत्तर रचना-काल समष्टि-रूपसे आत्म-संदेश-प्रचुर है।)

इसप्रकार, हम देखते हैं कि ऊपर गोस्वामीजीकी रचनाओंके लिए जो काल-क्रम हमने निर्धारित किया है उस क्रमसे उनकी प्रौढ़तापर अलग-अलग विचार करनेपर कविकी प्रतिभामें एक विकासोन्मुख प्रगति स्पष्ट रूपसे परिलक्षित होती है, जिससे हमें और भी यह विश्वास होजाता है कि ऊपर उपस्थित किया हुआ काल-क्रम शुद्ध है, और वह वास्तविकता के निकट है।

‘रामाज्ञा-प्रश्न’ और ‘रामशलाका’

काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित ‘तुलसी-ग्रंथावली’ में जिस ग्रंथका नाम ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ है, उसीके विभिन्न नाम विभिन्न प्रतियोंमें मिलते हैं—रामायण-सगुनौती^१, सगुनावली^२, सगुनमाला^३, रामाज्ञा^४, रामाज्ञा-प्रश्न^५, रामशलाका^६, और रघुवरशलाका^७ ।

इन नामोंमें से पहले नामको अधिक महत्त्व देनेके दो कारण हो सकते हैं । एक तो इस समय हमें उसकी जो सबसे प्राचीन प्रति प्राप्त है, और जो कविके देहांतके केवल नौ वर्ष पीछेकी लिखी हुई है, उसमें इसका नाम ‘रामायण-सगुनौती’ है^८ । और दूसरे, ग्रंथके अंतिम दोहेमें उसके नामका उल्लेख इसप्रकार होता है—

गुन विस्वास विचित्र मनि सगुन मनोहर हार ।

तुलसी रघुवर भगत उर बिलसत बिल बिल ॥ ७-७-७ ॥

अर्थात्, विश्वास-रूपी गुण (धागे) और ‘सगुन’-रूपी विचित्र मणिके संयोग-से यह मनोहर हार बना है । इसको धारण करनेवाले रघुवर-भक्तके हृदयमें निर्मल विचारोंकी सृष्टि होती है । योंतो ‘सगुन’ शब्द ग्रंथभरमें आया है, किंतु उसका ऐसा विशेष प्रयोग केवल इसी दोहेमें मिलता है, अतः इस अंतिम दोहे-का ‘सगुन’ अवश्य ही पूरे नामका सर्व-प्रमुख अंश रहा होगा । और, ‘सगुन’के साथ पूरी रामकथाका भी ग्रंथमें समावेश किया गया है, इसलिए उसका ‘रामायण-सगुनौती’ नाम ही सबसे अधिक संभाव्य जान पड़ता है । किंतु

^१ लिपिकाल सं० १६८९, काशिराज-पुस्तकालय, (विशेष खोज-रिपोर्ट, १९००, नो० ७)

^२ लिपिकाल सं० १८८१, पं० गयादत्त शुक्ल, गुरुदोला, आजमगढ़, (खोज-रिपोर्ट, १९०९-११, नो० ३२३ ह)

^३ लिपिकाल अनिश्चित, साहित्यरंजन पं० विजयानंद त्रिपाठी, काशी ।

^४ (क) लिपिकाल अनिश्चित, दतिया-राजपुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट, १९०३, नो० ८७)

तथा (ख) लिपिकाल अनिश्चित, दतिया-राजपुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट, १९०६-०८, नो० २४५ द)

^५ प्रकाशन-संवत् १९७७, ‘बोडस रामायण-संग्रह’ में संगृहीत ।

^६ लिपिकाल सं० १८२२, काशिराज-पुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट, १९०३ नो० ९८)

^७ लिपिकाल अनिश्चित, पं० रामप्रताप द्विवेदी, गोपालपुरा (खोज-रिपोर्ट, १९२०-२२, नो० १९८ ह)

^८ विशेष खोज-रिपोर्ट, १९००, नो० ७

सुविधाके लिए यहाँ हम उसके सबसे अधिक परिचित नाम ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ का ही प्रयोग करेंगे।

ऊपरके नामोंमें लेखकने ‘रामशलाका’ और ‘रघुबरशलाका’ को भी रक्खा है। अबसे लगभग ४० वर्ष पूर्व ‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’ में लिखते हुए सर जॉर्ज ग्रियर्सनने लिखा था^१—“छक्कनलाल कहते हैं कि १८२६ ई० में उन्होंने ‘रामाज्ञा’ की एक प्रतिलिपि मूल प्रतिसे की थी जो कविके हाथकी लिखी हुई थी, और जिसकी तिथि कविने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुद्ध १० रविवार दी थी।” और उसी पृष्ठपर फुटनोटमें उन्होंने छक्कनलालके शब्द दिए थे—“श्री सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवारकी लिखी पुस्तक श्री गोसाईजीके हस्त-कमल की प्रह्लादघाट श्रीकाशीजीमें रही। उस पुस्तकपर से श्री पंडित रामगुलामजीके सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरजापुरवासीने अपने हाथसे सं० १८८४ में लिखा था।” उसी पत्रिकाके एक अन्य पृष्ठपर पुनः उन्होंने लिखा था^२—“रामाज्ञा’ की वह प्रति गोस्वामीजीके हाथकी, नरकुल-द्वारा लिखी हुई थी और प्रह्लादघाटपर ३० वर्ष पूर्व (अर्थात् सन् १८६३ ई० के लगभग) तक विद्यमान थी।”

इन उल्लेखोंका प्रतिवाद करते हुए प्रह्लादघाटके श्रीरणछोड़लाल व्यासने थोड़े ही दिन पीछे ‘नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका’ में जो अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था उसका उल्लेख स्वर्गीय श्रीशिवनंदनसहायने ‘श्री गोस्वामी तुलसीदासजी’-नामक ग्रंथमें इस प्रकार किया है^३—“यह जीवनी छपनेके थोड़े ही दिन पहले हमको ‘काशी नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका’ (भाग १६, संख्या १०) में रणछोड़लाल व्यासजीका एक लेख देखनेमें आया। आप अपनेको गंगाराम ज्योतिषीका वंशधर बताते हैं और लिखते हैं कि ‘गंगारामजी दो भाई थे। दूसरेका नाम दौलतराम था। उनके वंशजों में पं० गिरिवर व्यास हुए।..... मैं उनका भांजा हूँ। असलमें ‘रामाज्ञा’ नहीं किंतु ‘रामशलाका’ थी, जो रामचंद्र (मेरे बहनोईके भाई) और गंगाधर (मेरी बुआके पुत्र) के हाथसे सं० १६२०-२२ के करीब लुटेरोंने श्रीनाथजीकी यात्राके समय उदयपुरके निकट लूट ली थी। उस ‘रामशलाका’ नक़ल की मिरजापुर-निवासी पं० रामगुलामजी द्विवेदीके श्रोता छगनलालजीके पास है।..... ‘रामाज्ञा’ की रचनाके संबंधमें जो बातें ग्रियर्सन साहबने लिखी हैं उन्हींका सारांश इन्होंने ‘राम शलाका’ के विषयमें लिखा है।”

१ ‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’, १८९३ ई०, पृ० ९६

२ ‘इंडियन ऐंटिक्वेरी’, १८९३ ई०, पृ० १९७

३ ‘श्री गोस्वामीतुलसीदासजी’, पृ० ३५३

फलतः दोनों प्रामाणिक कथनोंके अन्य अंशोंमें नितान्त साम्य होते हुए भी यह विवाद अभीतक चला आ रहा है कि सं० १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवारकी वह प्रति 'रामाज्ञा-प्रश्न' की थी अथवा 'रामशलाका' की^१ । अब, यदि यह सिद्ध हो जाय कि वस्तुतः 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामशलाका' एक-ही हैं, और दोनोंमें नाम-मात्रका अंतर है, तो इस विवादका यहीं अंत हो जाता है ।

इस प्रश्नपर भलीभाँति विचार करनेके लिए लेखक यह अनिवार्य समझता है कि खोज-रिपोर्टोंमें दिए हुए 'रामशलाका' और 'रघुबरशलाका' के प्रारंभिक और अंतिम दोहोंके साथ नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित 'रामाज्ञा-प्रश्न' के भी प्रारंभिक और अंतिम दोहे एकत्र उद्धृत किए जायँ—

'रामशलाका' के^२ दोहे इस प्रकार हैं—

प्रारंभिक—वानी बीनएक अंबु रवि गुरु हर रमा रमेस ।

सुमिरि करह सब काजसुभ मंगल देश विदेश ॥ १ ॥

गुरु मुर शैल सीदुर वदन ससी सुरसरि सुरगाइ ।

सुमिरि चलहु मंगल मुरती होइहि सुकृत सदाइ ॥ २ ॥

गीरा गौरि गुरु गनप हर मंगल मंगलमुल ।

सुमीरत करत शीधी सब होइही सब अनुकुल ॥ ३ ॥

अंतिम—सुदिन सादी पोथी नैवती पुजी प्रभात सप्रेम ।

सगुन बिचारव चारुमती सादर सत्य सुनेभ ॥ १ ॥

गुनि गनी दिन गनी धातु गनी दोहा देखी बिचारि ।

देसक करता बचन बर असगुन समै अनुदारि ॥ २ ॥

सगुन सत ससी नैन गुन अबधी अबध नौवान ।

होइ सुफल जसु आमु जसु प्रीती प्रतीती प्रमान ॥ ३ ॥

गुर गनेश हर गौरी सोअ राम लषन हनुमान ।

तुलसी दसरथ सुमीरी सब सगुन बीचार निधान ॥ ४ ॥

हनोमान सानुज भरत राम सीआ उर आनी ।

लषन सुमीरी तुलसी कहत सगुन बीचार बषानी ॥ ५ ॥

जो जेही काजही अनसरै सो दोहा जब होइ ।

सगुन समै सब सत्य फल कहब राम गती सोइ ॥ ६ ॥

गुनी बीसास बीचीत्र मनी सगुन मनोहर हार ।

तुलसी रघुबर भगती उर बीलसत बीमल बीचार ॥ ७ ॥

^१ 'हिंदी-नवरत्न', सं० १९८५, पृ० ७८

^२ खोज-रिपोर्ट, १९०३, नो० ९८

‘रघुबरशलाका’ के दोहे इस प्रकार हैं—

प्रारंभिक—बानि बिनायक अंब हर रवि गुरु रमा रमेस ।
 सुमिरि करहु सभ काज शुभ मंगल देश विदेश ॥ १ ॥
 गुरु रक्षसि सिंधुर बदन ससि सुरसरिता गाइ ।
 सुमिरि चलहु मंगल मुदित मन होइ सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
 गिरा गौरि गुरु गणप हर मंगलहु मंगल मूल ।
 सुमिरत करतल सिद्ध सब होइ ईश अनुकूल ॥ ३ ॥
 भरत भारती रिपुदमन गुरु गणेश बुधवार ।
 सुमिरत सुलभ सुधर्म फल बिद्या बिनय बिचार ॥ ४ ॥

अंतिम—गुण बिश्वास विचित्र मणि सगुण मनोहर सार ।
 तुलसी रघुबर भाग बड़ बिलसत बिमल बिचार ॥ ७ ॥

विषय—राम-जन्म, सीता-विवाह, अवध-सुख-वर्णन, राम-वनगमन, मुनियोंसे मिलन, खर-दूषन-वध, सीता-हरण, रावणादि-वध, अयोध्या-आगमन, सब बंदरादिका बिदा करना, ब्राह्मणके बालकका संवाद ।

काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित ‘तुलसीग्रंथावली’ में संगृहीत ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ का विषय भी वही है जो ऊपर उद्धृत किया गया है, अतः आगे हम केवल उसके प्रारंभिक और अंतिम दोहे उद्धृत करेंगे ।

प्रारंभिक—बानि बिनायकु अंब रवि गुरु हर रमा रमेस ।
 सुमिरि करहु सब काज सुभ मंगल देस विदेस ॥ १ ॥
 गुरु सरसइ सिंधुरबदन ससि सुरसरि सुरगाइ ।
 सुमिर चलहु मग मुदित मन होइहि सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
 गिरा गौरी गुरु गनप हर मंगल मंगलमूल ।
 सुमिरि करतल सिद्धि सब होइ ईस अनुकूल ॥ ३ ॥
 भरत भारती रिपुदवनु गुरु गनेस बुधवार ।
 सुमिरत सुलभ सुधरम फल बिद्या बिनय बिचार ॥ ४ ॥

अंतिम—सुदिन सौंभ पोथी नेवति पूजि प्रभात सप्रेम ।
 सगुन बिचारब चारुमति सदाप सत्य सनेम ॥ १ ॥
 मुनिगनि दिनगनि, धातुगनि दोहा देखि बिचारि ।
 दैस, करम करता बचन सगुन समय अनुहारि ॥ २ ॥
 सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नयवान ।
 होइ सुफल सुभ जासु जसु प्रीति प्रतीति प्रमान ॥ ३ ॥
 गुरु गनेस हरु गौरि सिय राम लषनु हनुमानु ।
 तुलसी सादर सुमिरि सबस गुन बिचार बिधानु ॥ ४ ॥

हनूमान सानुज भरत राम सीय उर आनि ।
 लषन सुमिर तुलसी कहत सगुन बिचारु बखानि ॥ ५ ॥
 जो जेहि काजहि अनुहरइ सो दोहा जब होइ ।
 सगुन समय सब सत्य सब कहब रामगति । गोइ ॥ ६ ॥
 गुन बिस्वास विचित्र मनि सगुन मनोहर हारु ।
 तुलसी रघुबर भगत उर बिलसत बिमल बिचारु ॥ ७ ॥

अतएव, इन उद्धरणोंसे यह नितांत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वस्तुतः 'रामशलाका' भी उसी ग्रंथका एक नाम है जिसका दूसरा नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' है ।

अब, इस संबंधमें केवल तीन प्रश्न रह जाते हैं—

- (१) क्या सं० १६२५, जेठ सुदी १०, रविवारकी तीथि ठीक है ?
- (२) क्या वह प्रति प्रह्लादघाटपर थी ? और
- (३) क्या उसके लिपिकार तुलसीदास थे ?

इन तीनों प्रश्नोंके संबंधमें ऊपर हम श्रीछकनलालका कथन. सर जॉर्ज ग्रियर्सनकी खोज. और श्रीरणछोड़लाल व्यासकी प्रतिवाद स्वरूपमें भी की हुई वस्तुतः उक्त कथन और खोजकी पुष्टि हम देख चुके हैं । साधारणतः इन साक्ष्योंकी ही पर्याप्त होना चाहिए था, किंतु नीचे हम और भी दृढ़ साक्ष्यों पर विचार करेंगे ।

'षोडस रामायण-संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा-प्रश्न' की समाप्ति इस प्रकार होती है—“हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी सं० १६२५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १० ।” इस समाप्तिसे यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि उक्त तिथिको लिखे हुए गोस्वामीजीके हस्ताक्षरयुक्त 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कोई प्रति अवश्य थी, जिसकी प्रतिलिपिके आधारपर 'षोडस रामायण-संग्रह' के 'रामाज्ञा प्रश्न' का संपादन किया गया है । लेखकका अनुमान है कि उस मूल-प्रतिमें 'लिखित तुलसी-दासेन' या इसी आशयकी कोई अन्य शब्दावली अवश्य रही होगी, जिसको यथोचित रीतिसे प्रकट करनेके लिए प्रतिलिपिकार ने “हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी” का आश्रय लिया है ।

ज्योतिषकी गणनाके अनुसार भी यह तिथि शुद्ध निकलती है । 'कवि-का समय' शीर्षक देकर 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में लिखते हुए इस तिथिके संबंधमें सर जॉर्ज ग्रियर्सनने लिखा है—“यह अनावश्यक है कि हम गणनाका विस्तार

दें। चैत्रादि-वर्ष लेनेपर यह तिथि रविवार ४ जून, १६६८ ई० के बराबर होती है।”

इन अतिरिक्त साक्ष्योंके आधारपर यह और भी संदेहातीत हो जाता है कि सं० १६६५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवारकी तिथि देते हुए गोस्वामीजीके हस्ताक्षर-युक्त ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ की एक प्रति कुछ समय पूर्व विद्यमान थी।

वह प्रति प्रह्लादघाट, काशीमें थी, इस संबंधमें भी श्रीछक्कनलाल, सर जॉर्ज ग्रियर्सन और श्रीरणछोड़लाल व्यासके कथनोंके पढ़नेके उपरांत संदेह न रहना चाहिए था किंतु इस विषयमें भी एक दृढ़ साक्ष्यका उल्लेख किया जा सकता है, वह है ‘रामाज्ञा-प्रश्न’का निम्नलिखित दोहा—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम ।

सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम ॥ १-७-७ ॥

यह दोहा ग्रंथमें प्रथम सर्गकी समाप्तिपर आता है और स्पष्ट ही गंगाराम को संबोधित करके कहा गया है। अतएव, जब अन्य प्रमाणिक साक्ष्यों-द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि गंगारामके उत्तराधिकारियोंके पास ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ की एक प्रति बहुत दिनोंतक थी तो हमें उसपर विश्वास होना ही चाहिए।

वह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी थी या नहीं, इस संबंधमें श्रीछक्कनलाल तथा श्रीरणछोड़लाल व्यासके कथनोंके होते हुए भी निश्चयके विषयमें हम यदि संदेहमें हों तो कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि उदाहरणार्थ, आजसे दस वर्ष पूर्व ‘रामचरितमानस’ की अनेक प्रतियां गोस्वामीजीके हाथकी लिखी मानी जाती थीं, किंतु आज उनमेंसे एक भी ऐसी नहीं मानी जा रही है— यहाँ तक कि राजापुरकी अयोध्याकांडकी प्रतिको भी अब हम गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई नहीं मान रहे हैं। यदि ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ की वह प्रति प्राप्त होती तो बहुत कुछ संभव था कि एक निश्चित धारणा उसके संबंधमें निर्मित की जा सकती। प्रस्तुत सामग्रीके आधारपर दृढ़तापूर्वक हम केवल इतना कह सकते हैं कि कमसे कम उक्त प्रतिके अंतमें दिया हुआ हस्ताक्षर और उसके साथ सं० १६६५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि गोस्वामीजीके हा अक्षरोंमें थे। शेषके लिए अनुमानोंका आश्रय लेना पड़ेगा। लेखकका अनुमान है कि वह प्रति गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी हुई थी। ऊपरके साक्ष्योंके अतिरिक्त उसके इस अनुमानका भी आधार ‘षोडस रामायण-संग्रह’ में संगृहीत ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ की समाप्ति है। उसका अनुमान है कि ‘हस्ताक्षर श्रीगुसाईंजी’के स्थानपर मूल-प्रतिमें ‘लिखित तुलसीदासेन’ या ठीक इसी आशयके दूसरे शब्द रहे होंगे,

१ देखिए इसी संग्रहमें संगृहीत ‘रामचरितमानसकी सबसे प्राचीन प्रति’ शीर्षक लेख।

क्योंकि केवल हस्ताक्षर करनेकी प्रथा अभी तक कदाचित् किसी भी प्राचीन हस्त-लिखित प्रतिमें नहीं देखी गई है। कुछ आश्चर्य नहीं कि उसके स्थानपर 'लिखित तुलसीदासेन' शब्द ही रहे हों।

इस प्रसंगमें हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि लेखक सं० १६५५ को 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचना-काल, इसप्रकार, नहीं मान लेता। उसके रचना-कालके संबंधमें वह विस्तारपूर्वक पहले विचार कर चुका है।^१ फलतः, एक अन्य प्रश्न यह किया जा सकता है—जिसका प्रस्तुत विषयसे सीधा संबंध नहीं है—कि तब गोस्वामीजीको सं० १६५५ में पुनः उसे लिखनेकी क्या आवश्यकता पड़ी होगी। इस संबंधमें भी हमारे सामने अनुमानके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। लेखकको इसी संबंधमें खोज करते हुए काशी में श्रीरणछोड़लाल व्याससे मिलनेका संयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने उससे कहा कि गोस्वामीजी जब पहले-पहल काशी आए, तब उन्हें गंगारामके यहाँ ही आश्रय मिला और यहींसे उनकी प्रसिद्धिका प्रारंभ हुआ। गंगारामको कारागृह-दंडसे बचानेके लिए यहीं उन्होंने 'रामाज्ञा-प्रश्न'की रचना की। चोरोवाली प्रसिद्ध घटना भी यहीं हुई। पीछे गोस्वामीजीने अन्य बहुतसे आश्चर्यजनक कार्य किए—जैसे मृत व्यक्तियोंको जिलाना—जिसका समाचार पाकर दिल्ली-पतिने उन्हें दिल्ली बुलवाया और कोई करामात दिखाने को उनसे कहा, किंतु परिणाम-स्वरूप क्रिलेका विध्वंस होते देखकर वह गोस्वामीजीके पैरोंपर पड़ा और उन्हें सम्मानके साथ विदा किया। वहाँसे लौटकर गोस्वामीजीने प्रह्लादघाटपर कुछ दिनों तक रहनेके पश्चात् अन्यत्र अपना स्थान बनाया। यह अन्य स्थान असीघाट (?) था।

व्यासजीके पूरे कथनसे सहमत होनेके लिए लेखक नहीं कह सकता, किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गोस्वामीजी प्रह्लादघाटपर कई वर्ष लगातार रहे। अन्य कारणोंसे भी, जिनका उल्लेख प्रस्तुत विषयसे बाहर होगा लेखकका अनुमान है कि प्रह्लादघाट गोस्वामीजीने कदाचित् सं० १६५५में छोड़ा। ऐसी दशामें यह असंभव नहीं कि अपनी स्मृति और प्रह्लादघाट छोड़नेकी स्मृति, बनाए रखनेके लिए वे अपने हाथसे लिखी हुई 'रामाज्ञाप्रश्न' की प्रति इस-प्रकार छोड़ते गए हों। बहुत संभव है कि यह प्रति पहलेकी लिखकर रखी रही हो, और उसकी पुष्पिका-मात्र उक्त तिथिको लिखी गई हो, अथवा उक्त तिथिको ही उन्होंने अपनी मूल-प्रतिसे एक प्रतिलिपि करके दी हो। लेखक इन दोनोंमेंसे प्रथमको अधिक संभव समझता है। 'रामाज्ञा-प्रश्न' की ही प्रति

^१ देविए इसी संग्रहमें, पृ० ४८।

‘रामाज्ञा-प्रश्न’ की ही प्रति गोस्वामीजीने क्यों दी होगी इसका स्वतः समाधान यह है कि उसकी रचनाके नैमित्तिक कारण गंगाराम थे ।

अनुमानों और कल्पनाओंके आधारपर तथ्योंको खींच-खींचकर सुलझानेमें लेखकको अधिक विश्वास नहीं है, इसलिए वह यह कहनेमें संकोच करता है कि तीसरे प्रश्नके संबंधमें उसके विचार किसीप्रकार मान्य हो सकेंगे । किंतु जबतक इससे अधिक दृढ़ सामग्री प्राप्त नहीं होती, तबतक इन्हें अथवा इसीप्रकारके अन्य अनुमानोंका आश्रय लेकर किसी परिणामपर पहुँचना होगा ।

‘रामचरितमानस’ की सबमे प्राचीन प्रति

‘रामचरितमानस’ की रचनाके सौ वर्ष भीतरकी उसकी प्रतियाँ अभीतक तीन ही देखनेमें आई हैं—

१-‘रामचरितमानस’ का बालकांड’ —सं० १६२१, वैशाख शु० ६, बुधवार को समाप्त ।

२-संपूर्ण ‘रामचरितमानस’ *—सं० १७०४ के माघ-मासमें समाप्त ।

३-संपूर्ण ‘रामचरितमानस’ †—सं० १७२१ में किसी तिथि को समाप्त ।

इन तीनके अतिरिक्त यदि हम राजापुरकी अयोध्याकांड ‘मानस’ की प्रतिको मान लें कि वह गोस्वामी तुलसीदासजीके हाथकी लिखी हुई है यद्यपि यह अत्यन्त संदिग्ध है—फिरभी संख्या चारसे आगे नहीं बढ़ती । मलीहाबादकी जो प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी कही जाती है, उसे उन महाशयके अतिरिक्त जिनके अधिकार में वह है, कदाचित् किसी अन्य व्यक्तिने अभीतक नहीं देखा है । फलतः उसके संबंधमें कोई विचार नहीं किया जा सकता

राजापुरवाली उपर्युक्त प्रतिके संबंधमें कि वह गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई है या नहीं इधर कुछ दिनोंसे विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है । प्रतिके अंतमें न तो लिपिकारका नाम है और न प्रतिकी समाप्तिकी तिथि दी हुई है । फलतः उसके लिपिकार और तिथिके संबंधमें अनुमानोंका ही आधार ग्रहण करना पड़ा है । सं० १६३१ में कवि-द्वारा ‘रामचरितमानस’ की जिम प्रतिका लिखा जाना प्रारंभ हुआ होगा उसका यह कोई अंश नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम प्रति होनेके कारण उसमें स्वतंत्रतापूर्वक संशोधन किए गए रहे होंगे और इस-प्रकारका संशोधन-बाहुल्य राजापुरवाली उपर्युक्त प्रतिमें नहीं है । कहीं-कहीं चौपाइयाँ भी छूट गई हैं, जिनके न रहनेसे आगे और पीछेवाली चौपाइयोंकी संगति ही नहीं लगती । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह किसी प्रतिकी प्रतिलिपि-मात्र है । प्रतिलिपि भी गोस्वामीजीके हाथकी की हुई नहीं है, इसमें संदेह बहुत

* ‘वोज-रिपोर्ट’, १९०१, नो० २२

† वहीं, १९००, नो० १

‡ ‘रामचरितमानस’ मूल (रामदास गौड़का संस्करण) भूमिका, १०२

कम है, कारण यह है कि उसकी लिखावट सं० १६६१ लिखे गए उस पंचनामेकी लिखावटसे बहुत भिन्न जान पड़ती है जिसके शीर्षकी कतिपय पंक्तियाँ निस्संदेह गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई हैं। यह भिन्नता दोनोंके मिलान करने पर स्पष्ट हो जाती है। ‘वाल्मीकि रामायण’ के उत्तरकांडकी सं० १६४१ में लिखी हुई एक प्रति काशीके सरस्वती-भवनमें सुरक्षित है। वह किसी तुलसीदासकी लिखी हुई है, जैसा उसकी पुष्पिकासे ज्ञात होता है। कहा जाता है कि उसके लेखक तुलसीदास हमारे गोस्वामी तुलसीदास ही थे। उसके लेखक गोस्वामी तुलसीदास ही थे या अन्य कोई तुलसीदास यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है। थोड़ी देर-के लिए यदि हम उसे गोस्वामी तुलसीदासकी ही लिखी लें तो भी उसकी लिखावट इस राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे बहुत भिन्न है यह दोनोंके मिलान करनेपर आपसे-आप जान पड़ता है।^१ फलतः यह लगभग सिद्ध है कि राजा-पुरकी अयोध्याकांडकी प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई नहीं है। वह गोस्वामीजीके हाथकी शुद्धकी हुई भी नहीं है, यह भी साफ़ जान पड़ता है, क्योंकि अन्यथा उसमें इतनी अधिक अशुद्धियाँ न मिलनी चाहिए थीं। प्रति प्राचीन अवश्य है, किंतु वह ‘मानस’-जन्मके सौ वर्षके भीतरकी है या नहीं यह जाननेके लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

अतः यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त प्रथम प्रति ही ‘रामचरितमानस’ की ऐसी सबसे अधिक प्राचीन प्रति है जो हमें उपलब्ध है। हमारे लिए यह और भी हर्षकी बात है कि वह गोस्वामीजीके जीवन-कालकी है। उसके लिखे जानेके लगभग २० वर्षबाद गोस्वामीजीका गोलोकवास हुआ। वह और भी महत्वपूर्ण इसलिए है कि उसके लिपि-कालसे कमसे कम ४३ वर्ष पंछेतक की कोई अन्य प्रति हमें उपलब्ध नहीं है। किंतु यह अत्यंत खेदका विषय है कि हमने उस प्रतिका अभी तक जैसा उचित था वैसा उपयोग नहीं किया है।

अयोध्यामें सरयूके तटपर वासुदेवघाट नामका एक घाट है, उससे थोड़ी ही दूरपर वासुदेव भगवानका प्रसिद्ध मंदिर है। इस मंदिरसे सरयूकी ओर जाने पर दो ही तीन मंदिरोंके बाद ‘श्रावण-कुंज’ नामका एक अच्छा-सा मंदिर पड़ता है। यह मधुर अलीजीके स्थानके नामसे अयोध्यामें प्रसिद्ध है। इससमय

^१ राजापुरकी प्रतिक पत्रों, पंचनामे और ‘वाल्मीकि रामायण’ के उत्तरकांड की प्रतिके पत्रों के छायाचित्र पाठकोंको श्रीरामदास गौड़-लिखित ‘रामचरितमानस की भूमिका’ या बा० श्यामसुंदरदास-लिखित ‘गोस्वामी तुलसीदास’ में मिल सकते हैं।

^२ इस विषयपर एक अच्छा लेख श्रीशुद्धदेवबनारायणजीका है जो ‘सुधा’, वर्ष ६, खंड २, सं० ६, पृ० ५६० पर प्रकाशित हुआ है।

उस स्थानपर महंत श्रीजनकश्रीशरीशरणजी महाराज हैं। इनके अतिरिक्त कुंजके दो और अधिकारी हैं; एक हैं सर्वराइकार श्रीजानकीवल्लभशरण, और दूसरे हैं पुजारीजी। तीनों सज्जन उदार प्रकृतिके साधु हैं। इन्हींके अधिकार में 'मानस' के बालकांडकी उपर्युक्त प्रति रहती है। एक अन्य भी विशालकाय 'आदिरामायण' नामी संस्कृत ग्रंथकी प्रति इन महानुभावोंके अधिकारमें है। यह 'रामायण' ब्रह्म-भुशुंडि-संवादके रूपमें है, और आकारमें 'वाल्मीकि रामायण' से कदाचित् ही छोटी होगी।

'रामचरितमानस' की जो प्रति इस कुंजमें है उसके दो अंश हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपेक्षाकृत अत्यंत नवीन। प्राचीन अंश केवल बालकांड है, यद्यपि उसमें भी पाँच पत्रे दूसरी श्रेणीके हैं। प्राचीन अंश एक हाथका लिखा हुआ है, और दूसरा अंश कुल एक दूसरे हाथका। ऐसा जान पड़ता है कि बालकांडकी प्रतिको प्राप्त करनेके अनंतर यह अधिक समीचीन समझा गया कि उसके जो पत्रे खंडित हैं उन्हें किसी दूसरी प्रतिसे प्रतिलिपि करके उक्तप्रतिमें रख दिया जावे जिससे कमसे कम बालकांड पूरा हो जावे, और शेष कांड भी उसीके साथ किसी अन्य प्रतिसे प्रतिलिपि करके साथ रख दिए जावें जिससे पाठके लिए 'रामचरितमानस' की पुस्तक पूरी रहा करे। प्राचीन और नवीन दोनों अंशोंके पत्रे एक ही आकारके हैं—लगभग $१\frac{1}{2} \times २\frac{1}{2}$ इंच—किंतु दोनोंके कागज़ोंमें बहुत अंतर है। दूसरे अंशका कागज़ पहलेकी अपेक्षा बहुत नवीन जान पड़ता है। दूसरे अंशका कागज़ हलकी पीली आभा लिए श्वेत है, किंतु पहले अंशका कागज़ भूरा हो चला है। बालकांडकी समासिपर लिखा हुआ है—

॥ सुभमस्तु ॥ संवत् १६६१ वैशाख शुदि ६ बुधे ॥

इससे प्राचीन अंशका लिपिकाल स्पष्ट है—क्योंकि यह पत्रा भी प्राचीन अंशका ही है, किंतु दूसरे अंशमें किसी कांडकी समासिपर पुष्पिका नहीं दी हुई है, जिससे किसी भी निश्चित तिथिका अनुमान करना कठिन है। सन् १९०१ ईस्वीकी 'खोज-रिपोर्ट' में इस प्रतिकी जो नोटिस निकली थी^१ उसका आशय यह था कि इस प्रतिके ऊपरके पाँच पृष्ठ पीछेसे लिखकर लगाए गए हैं, शेष पुराने हैं; प्रथम पत्रके ऊपर हिन्दीमें कुछ लिखा हुआ है, जो स्पष्ट नहीं, पढ़ा जाता, पर उसमें सं० १८८६ कार्तिक कृष्ण ५ रविवार लिखा हुआ जान पड़ता है, जिससे ज्ञात होता है कि ये पृष्ठ सं० १८८६ में बदले गए थे। किंतु लेखकके देखनेमें कोई ऐसी बात नहीं आई जिससे वह इस परिणामपर पहुँचता।

^१ 'खोज-रिपोर्ट', १९०१, नो० २२

उसने यह अवश्य देखा कि प्रतिका पहला पत्रा बहुत मोटा है, और वह दो पत्रोंको एकसाथ चिपकाकर बनाया गया है। फिर भी सूर्यको ओर उठाकर देखनेमें उसके आर-पार दिखाई पड़ता है। लेखकने इस प्रकार जब उसे उठाकर देखा तो उसे पत्रके निम्न-भागमें यह पंक्ति मिली, ‘सुनायके लोभाय बसमें किया’, जिसका आशय कदाचित् यह है कि किसी भक्तने यह प्रति या कोई अन्य वस्तु अपने इष्टदेवको सुनाकर उन्हें मुग्ध किया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लेख उसे पहले पृष्ठपर नहीं मिला।

उपर्युक्त बालकांडकी प्रतिमें इससमय केवल पाँच पत्रे खंडित हैं, जिनमें से चार प्रारंभके हैं और पाँचवाँ बीचका है। ‘मानस’ के एक बड़े प्रेमी काशी-के पंडित विजयानन्द त्रिपाठी हैं। आपने भी वह प्रति देखी है। कुछ दिन हुए लेखक आपसे मिला था। आपका अनुमान है कि बालकांडके प्रारंभमें गुरुकी वंदना तुलसीदासजीने जिस सोरठमें की है^१ उसमें ‘हरि’ के स्थान पर ‘हर’ पाठ होना चाहिए। प्रचलित पाठ है—

बंदौ गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।

आप का अनुमान है कि वस्तुतः पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

बंदौ गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हर।

आपका यह कथन निराधार नहीं है। लेखकके संग्रहमें भी ‘मानस’ की एक अत्यंत सावधानतापूर्वक लिखी हुई पुरानी प्रति है, जिसमें ‘हरि’ के स्थान पर ‘हर’ पाठ मिलता है। पहलेका पाठ जो भी रहा हो, इस समय हमें उससे विशेष संबंध नहीं है। किंतु, त्रिपाठीजीका यह भी अनुमान है कि संभवतः ‘हर’ पाठको निकाल देनेके उद्देश्यसे वैरागियोंने प्रारंभके पत्रे प्रतिसे गायब कर दिए और नए पत्रे लगा दिए। लेखक बड़े दुखके साथ आपके इस अनुमानसे असहमत होनेके लिए बाध्य है, क्योंकि यह बात उसकी समझमें नहीं आती कि ‘हर’ पाठ निकाल देनेके लिए प्रारंभके चार पत्रोंको गायब कर देनेकी क्या आवश्यकता थी काम तो केवल पहले पत्रके गायब कर देनेसे ही चल सकता था।

प्रारंभके इन चार पत्रोंके अतिरिक्त बीचका भी एक पत्रा, जैसा ऊपर कहा गया है, उपर्युक्त प्रतिमें नहीं था, और पीछेसे लिखकर रक्खा गया है। जो पत्रा इसप्रकार खंडित है, उसमें साधारणतः आना चाहिये था राम-जन्म-सूचक सुप्रसिद्ध छंद—

भय प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्याहितकारी।^२

^१ ‘रामचरितमानस’ (रामदास गौड़का संस्करण), बाल०, वंदना-प्रकरण।

^२ ‘वही, बाल०, दो० १९२

इस छंदके तीसरे चरणका प्रचलित पाठ है—

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजचारी ।

इस समय जो नवीन पत्रा खंडित पत्रके स्थानपर लगा हुआ है, उसमें पहलेका पाठ था—

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजधारी ।

—किन्तु अब 'धारी' के 'ध' की गर्दन चाकू, या किसी नोकदार वस्तुसे रगड़कर निकाल दी गई है, और वह 'चारी' की भाँति पढ़ा जाता है। कागज़ के छिलनेका चिन्ह बहुत स्पष्ट है। आगेवाले पत्रेपर, जो पुराना है, छंदका उत्तरार्द्ध पढ़ता है। उसमें यह पक्ति आती है—

सो मम हितलागी जनअनुरागी भएउ प्रगट श्रीकंता ।

—और 'श्रीकंता' की दाहिनी ओर हाशिपर पीछेके किसी हाथ-द्वारा लिखा हुआ है—

“श्रीकंता से चारि भुजा”

उपर्युक्त त्रिपाठीजीका अनुमान है कि असली पत्रेपर 'भुजचारी' पाठ रहा होगा, जिसको बदलनेके लिए और 'भुज धारी' पाठ रखनेके लिए असली पत्रेको वैरागियोंने निकाल फेंका, क्योंकि वे द्विभुज-रामके उपासक होते हैं। पहलेका पाठ 'भुज चारी' रहा होगा इसकी संभावना बहुत अधिक है; 'श्रीकंता' से इसका संकेत मिलता ही है 'अध्यात्मरामायण' में भी, जिससे राम-जन्मका प्रसंग 'मानस' में लिया गया है, चार भुजाओंके ही स्वरूपमें रामावतार होता है।^१ किंतु वस्तुतः इस प्रतिमें क्या पाठ था, और पत्रा किसी उद्देश्यसे गायब किया गया या स्वतः खंडित होगया यह सब इतने ही माध्यके आधारपर कहना कठिन है।

बालवांडकी इस प्राचीन प्रतिका लिपिकार कौन रहा होगा, यह एक आवश्यक प्रश्न है। प्रतिके अंतमें लिपि-काल देते हुए भी उसने अपना नाम नहीं दिया है। अंतिम पत्रेकी एक ओर लिपि-काल दिया हुआ है, और दूसरी ओर उसकी पंक्तिपर एक बहुत मोटा कागज़ चिप लाया हुआ है। श्रावण-कुंजके पड़ोसमें ही तुलसीदासके एक बड़े प्रेमी श्रीसीताप्रसादजी रहा करते थे। इस प्रतिको जीर्ण अवस्थामें देखकर उन्होंने प्रत्येक पत्रके हाशिपर पतंगी कागज़ चिपका दिया, जिससे पत्रे और घिसकर शीघ्र नष्ट न हो जावें। उन्होंने अंतिम पत्रेकी

^१ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण)

^२ 'अध्यात्मरामायण', सर्ग ३, श्लोक १६-१८

पीठपर यह मोटा कागज़ भी चिपका दिया। उस मोटे कागज़पर उन्होंने इस आशयका उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवानदासकी लिखी हुई है जिनकी लिखी हुई ‘विनयपत्रिका’ की एक प्रति काशी-राज्यके रामनगरमें एक चौधरी साहब के पास है; और यह कि उन भगवानदासने इस अंतिम पत्रेकी पीठपर प्रस्तुत कागज़के नीचे अपना नाम भी दिया है, किंतु कागज़ अत्यंत प्राचीन होनेके कारण पत्रा फटा जारहा था, इसलिए यह मोटा कागज़ उन्होंने चिपका दिया। लेखकने पत्रेको सूर्यकी ओर उठाकर उसके आर-पार देखनेकी बड़ी चेष्टा की, किंतु वह कागज़की मोटाईके कारण बेकार हुई। रामनगर-वाली ‘विनयपत्रिका’ की उपर्युक्त प्रति भी उसकी देखी हुई है, दोनों प्रतियोंकी लिखावटें इतनी अधिक मिलती हैं कि दोनों एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई जान पड़ती हैं। रामनगरवाली प्रतिकी समाप्ति में लिखा हुआ है—

‘लीषीतं भगवानब्राह्मणेन ॥’

— जिससे यह स्पष्ट है कि वह भगवान नामके किसी ब्राह्मणकी लिखी हुई है। कुछ आश्चर्य नहीं कि बालकांडकी प्रस्तुत प्रति भी उन्हीं भगवान ब्राह्मणकी लिखी हुई हो। उपर्युक्त त्रिपाठीजीका अनुमान है कि यह ‘भगवान’ वही है जिसके पुत्र ‘कृष्ण’ नामके व्यक्ति ने सं० १६६६ में लिखे गए पंचनामेपर साक्षी भरी है। पंचनामेके शीर्षकी कुछ पंक्तियाँ तुलसीदासके हाथकी लिखी हुई निर्विवाद मानी जाती हैं। ‘कृष्ण’ की साक्षी इस पंचनामेमें दाहिनी ओर नीचेसे चौथी और पाँचवीं पंक्तियोंमें इस प्रकार है—^१

“साक्षी कान्श दूब भगवन सुत ।”

‘कान्श दूब’ तो अवश्य ही ‘कृष्ण दूबे’ के स्थानपर अशुद्ध लिखा गया है। जान पड़ता है कि यह कृष्ण दूबे लगभग निरुत्तर ब्राह्मण थे। संभव है उन्होंने ‘भगवान’ के ‘वा’ के आकारकी मात्रा पर्याप्त मात्रा-बोध न होनेके कारण ही छोड़ दी हो, और यह असंभव नहीं है कि यही ‘भगवन’ जो कृष्ण दूबेके पिता थे उपर्युक्त रामनगरवाली प्रतिके ‘भगवान’ ब्राह्मण भी हों, किंतु यह भी संभव है कि ‘भगवान ब्राह्मण’ कृष्ण दूबेके पिता ‘भगवन’ से भिन्न हों, क्योंकि ‘भगवान’ एक बहुत प्रचलित नाम है, और कदाचित् उस समय भी वह इन्हीप्रकार प्रचलित था जैसा आज है, क्योंकि उपर्युक्त पंचनामेमें ही हमें ए० ५ अन्य साक्षी, प्रारंभसे सातवें, ‘भगवान’ मिलते हैं जो ‘केशवदाससुत’ हैं।^२ यदि त्रिपाठीजीका

^१ देखिए रामदास गोड़-कृत ‘रामचरितमानसकी भूमिका’ खंड ५, पृ० ६१ के सामने।

^२ वही।

अनुमान सत्य हो तो ये प्रतियाँ और भी अधिक महत्वपूर्ण कदाचित् इसलिये सिद्ध होंगी कि वे तुलसीदासके किसी पड़ोसीकी ही लिखी हुई हैं। किंतु, वह स्पष्ट है कि किसी निश्चयपर पहुँचनेके लिए प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त है।

तीनसौसे अधिक वर्षकी पुरानी प्रति कितने हाथोंमें गई होगी यह कौन कह सकता है, किंतु कई महानुभावोंने संशोधनोंके रूपमें उसपर अपनी छाप भी छोड़ दी है। यदि अधिक नहीं तो कमसे कम आधे दर्जन हाथों-द्वारा प्रतिका संस्कार अवश्य हुआ है। पूर्व-मुद्रण-कालमें जब ग्रंथोंकी पांडुलिपियाँ ही तैयार की जाती थीं, प्रतिलिपि करनेमें बहुत-सी अशुद्धियाँ हो जाया करती थीं, इसलिये वह एक नियम-सा हो गया था कि अधिकतर उस व्यक्तिसे भिन्न जो प्रतिलिपि करता था एक व्यक्ति मूल-प्रतिसे इस प्रतिकी जाँच करके जहाँ-जहाँ अशुद्धि मिलती थी हरताल लगाकर संशोधन कर देता था, तब वह उस व्यक्तिको दी जाती थी, जो उसका 'लिपिकर्म' कराता था। अतः यदि किसी प्रतिमें हमें स्थान-स्थान पर हरताल लगा हुआ दिखाई पड़ता है, तो हम यह समझ लेते हैं कि प्रति शोधी हुई है और यदि हमें ऐसा नहीं मिलता तो साधारणतः हम यह समझते हैं कि प्रति बिना शोधे हुए छोड़ दी गई थी। बिना हरताल लगाए भी, गलतियोंको केवल काटकर संशोधन किया जा सकता था, किंतु प्रतियोंका पाठ साफ़-सुथरा रखने के उद्देश्यसे हरताल लगाकर ही अधिकतर संशोधन किया जाता था। उपर्युक्त बालकांडकी प्रतिमें हमें दोनों संशोधन-विधियाँ मिलती हैं। कुछ स्थलोंपर तो हरताल लगाकर संशोधन किया गया है, और कुछ स्थलोंपर केवल स्याहीसे काटकर। जिससे यह जान पड़ता है कि हरताल लगाकर जो संशोधन किया गया है, वही मूल-प्रतिके अनुसार होगा, दूसरे प्रकारका संशोधन नहीं। दूसरे प्रकारका संशोधन मन-माना भी हो सकता है, और उसे उसका कर्ता प्रत्येक समय कर सकता था। ऐसे दूसरे श्रेणीके संशोधन भी प्रतिभरमें मिलते हैं। ये पिछले प्रकारके संशोधन संभवतः पहले प्रकारके संशोधनोंके पीछे किए गए होंगे, क्योंकि अन्यथा हरताल लगाकर उनका फूहड़पन दूरकर दिया गया होता। शुद्ध-पाठके लिए हरतालवाले संशोधनोंको मानना चाहिए, लेखकने इसी धारणासे पहले प्रति उठाई, और वह उन पाठोंको खेता गया जो हरताल लगाकर बनाए गए थे, किंतु कुछ दूर आगे बढ़नेपर उसे ज्ञात हुआ कि इस प्रकारका संशोधन केवल भूलोंको ठीक करनेतक ही सीमित नहीं रक्खा गया है, बल्कि उसका उपयोग कहीं-कहीं कम उपयुक्त जान पड़नेवाले शब्दोंको निकालकर उनके स्थानपर उनके संशोधकको अधिक उपयुक्त जान पड़ने-वाले शब्दोंको स्थान देनेके लिए भी किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है

कि हरताल लगाकर किया हुआ संशोधन भी बहुत कुछ मन-माना है और उसका उद्देश्य, जैसा वस्तुतः उसे होना चाहिए था, इतना ही नहीं है कि मूल-प्रतिका पाठ प्रतिलिपिमें भी अच्युत रूपमें रक्खा जावे। ऐसे कुछ संशोधनोंका उल्लेख नीचे किया जाता है—

पूर्वका पाठ—जीव चराचर सब के राषे। सो माया प्रभुसों भय भाषे ॥ २०० ॥

संशोधित पाठ—जीव चराचर बस के राषे। सो माया प्रभुसों भय भाषे ॥ २०० ॥

उपरकी चौपाईमें संभव है प्रतिलिपिमें ‘बस’ के स्थान पर ‘सब’ पाठ हो गया हो, किंतु नीचेके दोहेमें इस प्रकारकी भूल हुई नहीं जान पड़ती—

पूर्वका पाठ —प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान।

सुतसनेहबस माता बालचरित कर गान ॥ २०० ॥

संशोधित पाठ—प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।

सुतसनेहबस मात तब बालचरित कर गान ॥ २०० ॥

—प्रतिलिपि करनेमें ‘मात तब’ के स्थानपर ‘माता’ कभी नहीं हो सकता था, यह स्वतः स्पष्ट है। इसीप्रकार नीचेकी चौपाईमें भी परिवर्तन किया गया है—

पूर्वका पाठ—विधुवदनी मृगबालक लोचनि। निज स्वरूप रतिमानुविमोचनि ॥ २९७ ॥

संशोधित पाठ—विधुवदनी मृगसावकलोचनि। निज स्वरूप रतिमानुविमोचनि ॥ २९७ ॥

—प्रतिलिपि करनेमें ‘सावक’ के स्थानके ‘बालक’ पाठ कभी नहीं हो सकता था। ‘बालक’ शब्दको कम उपयुक्त समझकर ही ‘सावक’ पाठ बनाया हुआ जान पड़ना है। यह संतोषकी बात है कि इस ढंगके संशोधनोंकी संख्या अधिक नहीं है, और अधिकतर स्थलोंपर जहाँ इस प्रकारके संशोधन हैं, पूर्वका पाठ भी पढ़ा जा सकता है।

एक दूसरे ढंगका संशोधन हुआ है, अनुस्वार-सूचक विंदुके नीचे चंद्राकार रेखा बनाकर उसे चंद्रविंदुमें परिवर्तित करनेमें। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिलिपिकारने स्वयं प्रतिभरमें कहीं भी चंद्रविंदुका प्रयोग नहीं किया था, सानुनासिक और अनुस्वरित दोनों प्रकारके वर्णोंके उच्चारणके लिए उसने केवल विंदुसे कार्य लिया था। किंतु किन्हीं महाशयने कहीं-कहीं पर विंदुके नीचे चंद्राकार रेखा बना दी है। यह रेखा पीछेकी बनाई हुई है, यह स्पष्ट जान पड़ता है, क्योंकि वह विंदुकी अपेक्षा एक हलकी स्याहीसे बनाई हुई है। इसप्रकारका संशोधन भी अधिक नहीं हुआ है, और न इससे कोई क्षति हुई है, क्योंकि उच्चारणमें कोई अंतर नहीं पड़ा है। उदाहरणार्थ—

पूर्वका पाठ —फिरत सनेहमगन सुष अपनैं। नामप्रसाद सोच नहि सपनैं ॥ २५ ॥

संशोधित पाठ—फिरत सनेहमगन सुष अपनैं। नामप्रसाद सोच नहि सपनैं ॥ २५ ॥

पूर्वका पाठ—भांय कुभांय अनष आलसहुं । नाम जपत मंगल दिसि दसहुं ॥ २८ ॥

संशोधित पाठ—भांय कुभांय अनष आलसहुं । नाम जपत मंगल दिसि दसहुं ॥ २८ ॥

इन दो प्रकारके संशोधनोंके अतिरिक्त, तीन विशेष स्थलोंके संशोधन ध्यान देने योग्य हैं इन तीनों स्थलोंपर प्रतिलिपि करते समय पूरी एक-एक पंक्ति ही छूट गई थी । एक संशोधन प्रतिके ४० वें पत्रके अपरार्द्धमें है । पहले नीचे लिखा दोहा आता है—

पारवती पहि जाइ तुम्ह प्रेम परीखा लेहु ।

गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन दूरि करेहु संदेहु ॥ ७७ ॥

उसके बाद तुरंत ही नीचे लिखी चौपाई आजाती है—

रिषिन्ह गौरि देखी तह कैसी । मूरतिमंत तपस्या जैसी ॥

और नीचे लिखी चौपाई जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाईके बीचमें आना चाहिए था, प्रतिलिपि करनेमें छूट जाती है—

तब ऋषि तुरत गौरि पह गयऊ । देषि दशा मुनि विस्रै भयऊ ॥

—संशोधन करनेवाले व्यक्तिने यह चौपाई ऊपरके हाशिष्टमें लिख दी है, और जिस स्थानपर इसकी आना चाहिए था, वहाँपर एक चिन्ह बना दिया है । कहा जाता है, यह संशोधन तुलसीदासजीका किया हुआ है ।

ठीक इसीप्रकारका एक दूसरा संशोधन प्रतिके १४६ वें पत्रके अपरार्द्धमें आता है । पहले नीचे लिखा दोहा आता है—

तेहि रथ रुचिर वशिष्ठ कहु हुरषि चढाइ नरेसु ।

आपु चढेउ स्यंदन सुमिर हर गुरु गौरि गनेसु ॥ ३०१ ॥

और उसके बाद ही यह चौपाई आ जाती है —

करि कुलरीति बेद विधि राऊ । देखि सबहि सब भाति बनाऊ ॥

नीचे लिखी चौपाई, जिसे उपर्युक्त दोहे और चौपाईके बीचमें आना चाहिए जाता है कि था, प्रतिलिपि करनेमें छूट जाती है—

साहित वशिष्ठ सोह नृप कैसे । सुर सुरसंग पुरंदर जैसे ॥

संशोधनमें यह चौपाई ऊपरी हाशिष्टपर लिख दी गई है, और जिस स्थानपर इसे होना चाहिए था वहाँपर छूटनेका एक चिन्ह बना दिया गया है । कहा जाता है कि यह संशोधन भी गोस्वामीजीके हाथका किया हुआ है ।

उपर्युक्त श्रीसीताप्रसादजीने प्रतिके आंतम पत्रकी पीठपर मोटा कागज़ चिपकाकर ऊपर जो कहा गया है उसके अतिरिक्त इस आशयका भी उल्लेख किया है कि प्रस्तुत प्रति गोस्वामीजी-द्वारा संशोधित है, क्योंकि इसके संशोधनोंकी

लिखावट राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे मिलती-जुलती है। किंतु, लेखकका अनुमान है कि उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो यही बहुत संदेह-पूर्ण है कि राजापुर वाली प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी है, दूसरे यदि उसे गोस्वामीजीकी लिखी मान भी लिया जावे तब भी उसकी लिखावट ऊपरके दोनों संशोधनोंकी लिखावटसे भिन्न है। उदाहरणार्थ—

ऊ—राजापुरकी प्रति का ऊ दीर्घ ई की तरह (उं) उ और ‘ के संयोगसे बना है, किंतु ऊपरके प्रथम संशोधनमें आए हुए ‘गयऊ’ और ‘भयऊ’ के ऊ साधारण छापेके ऊ की भाँति उ और एक दुमके संयोगसे बने हैं।

ज—राजापुरकी प्रति का ज चार अंशों का बना हुआ है, (५ - - १) किंतु ऊपरके दूसरे संशोधनमें आए हुए ज में साधारण छापेवाले ज की भाँति केवल तीन ही अंश मिलते हैं (५ - १)। राजापुरवाले ज का दूसरा अंश उसमें नहीं है।

भ—राजापुरके भ में अंतकी जो खड़ी पाई है उसके ऊपर एक आड़ी रेखा भी है (१), किंतु ऊपर के दूसरे संशोधनमें आनेवाले ‘भयऊ’ के भ में वह आड़ी रेखा नहीं है, और अंतिम पाई मंडी छोड़ दी गई है (१)।

र—राजापुरकी प्रतिकी र १ और २ की मिलावटसे बना हुआ है, किंतु दूसरे संशोधनमें आनेवाले ‘सुर गुर’ के र साधारण छापेवाले र की भाँति १ और २ के मेलसे बने हैं।

ह—राजापुरका ह छपे हुए साधारण ह की भाँति १, २ और ३ के संयोग से बना हुआ है किंतु ऊपरके दूसरे संशोधनमें आनेवाले ‘सहित और मोह’ के ह के १, २ और ३ नहीं हैं।

उ—राजापुरकी चिन्हमें भी विशेष उल्लेख योग्य अंतर है। राजापुरकी प्रति में ‘हृदय’ के उ की भाँति लिखा हुआ मिलता है, और इन संशोधनोंमें आए हुए सुरपुर में बड़ा उ रूपकी बिकारा की भाँति लिखा हुआ मिलता है।

य—आइए हम उदाहरणके लिए प्रयास करेंगे। यदि ध्यानसे देखा जाय तो इसीप्रकार राजापुर अधिस्तर अक्षरोंकी लिखावटमें मिलेगा।

ऊपरके चिन्हों की लिखावट ऊपर कहे हुए पंचनामे की लिखावटसे भी मेल नहीं मिलती। उदाहरणके लिए दोनोंमें आए हुए कुछ अक्षरोंकी लिखावटोंकी तुलना नीचे की जाती है—

क—पंचनामे के क की दुम छोटी है, किंतु संशोधनोंमें आए हुए क की दुम लम्बी है।

ख—ऊपर राजापुरके ख के संबंधमें जो कहा गया है वही पंचनामेके ख के संबंधमें भी सत्य माना चाहिए।

त—पंचनामेका त परिधिके एक टुकड़े और एक खड़ी पाई (१) के संयोग से बना हुआ है किंतु संशोधनोंका त एक खड़ी रेखा फिर एक आड़ी रेखा और खड़ी पाई (१-१) के संयोगसे बना हुआ है ।

न—पंचनामेका न शून्य और आड़ी रेखा (० -) के संयोगसे बना हुआ है; किंतु संशोधनोंका न एक त्रिकोण और आड़ी रेखा (- -) के संयोगसे बना हुआ है ।

भ—ऊपर राजापुरवाले भ के संबंधमें जो कहा गया है, वही पंचनामेके भ के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनों लगभग एकसे हैं ।

ह—राजापुरके ह के संबंधमें ऊपर जो कहा गया है लगभग वही पंचनामेके ह के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंमें बहुत साम्य है ।

उ—राजापुरकी प्रतिमें आए हुए उकारकी मात्राके संबंधमें ऊपर जो कहा गया है, वही पंचनामेकी उकारकी मात्राके संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंकी लिखावटोंमें बहुत कुछ साम्य है ।

‘वाल्मीकि रामायण’ के उत्तरकांडकी सं० १६४१ की प्रति, जो गोस्वामीजीके हाथकी लिखी कही जाती है, उसकी लिखावट भी इन संशोधनोंकी लिखावटसे नहीं मिलती । उदाहरणार्थ—

ज—ऊपर पंचनामेके ज के संबंधमें जो कहा गया है, वही ‘वाल्मीकि रामायण’ के ज के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंमें बहुत साम्य है ।

इ—इसी प्रकार ऊपर राजापुरके संबंधमें जो कहा गया है, वही ‘वाल्मीकि रामायण’ के इ के संबंधमें भी समझना चाहिए, दोनोंके इ एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं ।

प्रस्तुत लेखके साथ न पंचनामेका चित्र दिया जा रहा है और न, राजापुरकी प्रतिके पृष्ठोंका ही, इसलिए इस संबंधमें विस्तार व्यर्थ होगा । इतने-सेही कदाचित् यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनों संशोधनोंकी लिखावट न तो राजापुरकी प्रतिकी लिखावटसे मेल खाती है और न पंचनामे या ‘वाल्मीकि रामायण’ की ही लिखावट से । फलतः यह मानना कदाचित् भूल होगी कि प्रस्तुत बालकांडकी प्रति तुलसीदासजीके हाथकी संशोधित की हुई है ।

एक और भूल संशोधनके पीछे भी इस प्रतिमें रह गई थी । वह इसप्रकार है—प्रतिके ४० वें पत्रके अपराद्धमें हो, जिसपर की एक भूलका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यह भूल भी पड़ती है । होना चाहिए था—

१ ‘रामचरितमानस’, (रामदास गौड़का संस्कारण), बाल०, दो० ७८

केहि अवराधहु का तुम चहहु । हमसन सत्य मरमु (किन कहहु ॥
सुनत रिबिन्हके बचन भवानी । बोली गूढ मनोहर बानी ॥
कहत) बचन मन अति सकुचार्ह । हसिहहु सुनि हमार जड़ताई ॥

किंतु प्रतिलिपि करनेमें ‘सत्य मरमु’ के आगे ‘बचन’ तकका वह अंश जो कोष्ठकोंके भीतर रक्खा गया है छूट गया था । यह छूटा हुआ अंश लंबाईमें एक पंक्तिके बराबर है, इसलिए ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रतिलिपिकार एक पूरी पंक्तिही छोड़कर आगे की पंक्तिपर चला गया । पीछेसे, जो संशोधन पहली बार हुआ, उसमें बाएँ हाशिणपर ‘किन कहहु’ और, ‘कहत’ लिखकर पहली और तीसरी चौपाई तो पूरी करदी गई, फिर भी बीचवाली चौपाई नहीं लिखी गई । दूसरी बार जो संशोधन हुआ उसमें ऊपर किए हुए संशोधनपर हरताल लगाकर फिर वे ही शब्द लिखे गए, और फिर भी बीचवाली चौपाई नहीं लिखी गई । तीसरीबारके संशोधनमें किन्हीं महाशयने यह छूटी हुई चौपाई पत्रके नीचेके हाशिणमें लिख दी, किंतु इस समय उसपर वह पतंगी कागज़ चिपकाया हुआ है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इस भूल, और उसके संशोधनसे दो बातोंका पता चलता है, एक यह कि ४० वें पत्रके अक्षरान्द तुलसीदासजीका संशोधित किया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथा ऐसी भद्दी भूल संशोधनके बाद भी बनी न रह जाती; दूसरी बात यह कि मूल-प्रतिको सामने रखकर भी इस प्रतिका संशोधन नहीं किया गया; क्योंकि अन्यथा दो-दो बारके संशोधनोंके पीछे भी इतनी मोटी भूलकर रह जाना असंभव था ।

ऊपर संशोधनोंके जो उदाहरण दिए गए हैं, और तीन विशेष स्थलोंके संशोधनोंपर जो विचार किया गया है, उससे हम इन निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं—

- १—संशोधन कब-कब और किनके द्वारा हुए, यह नहीं कहा जा सकता ।
- २—यह स्पष्ट है कि संशोधन कई बार और कई व्यक्तियों-द्वारा हुए ।
- ३—संशोधन केवल प्रतिलिपिकी भूल सुधारनेके लिए ही नहीं बल्कि पाठ-सुधारके लिए भी किए गए हैं ।
- ४—कुछ संशोधन बिना किसी विशेष मतलबके किए गए हैं ।
- ५—संशोधन कदाचित् गोस्वामीजीके किए हुए नहीं हैं । और
- ६—संशोधन मूल-प्रतिको सामने रखकर नहीं किए गए हैं ।

ऐसी दशामें हमारे लिए यही अधिक उत्तम है कि संशोधनोंको एक ओर रखकर हम यह जाननेका उद्योग करें कि प्रतिलिपिकारने पहले-पहल क्या लिखा था । संतोषकी बात है कि ध्यानपूर्वक देखनेपर अधिकतर स्थलोंपर पूर्वा

पाठ हमें मिल जाता है। वह पाठ इस प्रकारका है कि अभीतक संपादित 'रामचरितमानस' की कोई भी प्रति वैसा पाठ हमारे सामने नहीं रख सकी है। इसका कारण भी स्पष्ट है—एकतो इतनी प्राचीन प्रति हमें प्राप्त होते हुए भी इसका यथोचित उपयोग हमने अभीतक नहीं किया है, दूसरे हमारे अधिकतर संपादकों ने पाठके लिए अपनी सुरुचिको ही प्रमाण माना है। यदि उनकी रुचिके अनुसार पाठ किसी भी प्रतिमें मिल गया है, तो उन्होंने उसे स्वाकार करके अन्य पाठोंकी अवमानना की है।

अधोधाकी किसी प्रतिका उपयोग 'रामचरितमानस' के संपादनमें श्रीरामदास गौड़ने किया है, यह उनके एक पृष्ठके फुटनोटसे जान पड़ता है।^१ उक्त फुटनोटमें वे लिखते हैं "अधोधाकी प्रतिमें 'क्रानासा' यह पाठ हरताल लगाकर बनाया गया है, और ऐसा प्रसिद्ध है कि तुलसीदासजने इन प्रतिको शुद्ध किया था।" लेखकको प्रस्तुत बालकांडकी प्रतिमें यह संशय न मिला है, जिससे उसका अनुमान है कि गौड़जीका अभिप्राय उपरक उल्लेखम इसी प्रतिसे है। गौड़जी द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' के बालकांडका पाठ अन्य संपादित प्रतियोंके बालकांडके पाठोंकी अपेक्षा प्रस्तुत प्रतिके पाठके अधिक निकट है इससे भी लेखकके उपर्युक्त अनुमानका पुष्टि होता है। किंतु 'मानस' के मूल-पाठकी भूमिकामें उन्होंने लिखा है "संवत् १७२१ की लिखी जिस प्रति स काशीके श्रीभागवतदास छत्राने पोथा छपवाई था, वह मेरा निगाहमें अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है, अधिकांश पाठ उसीसे मिलाया गया है," यह उन्होंने संवत् १७०४ की उप प्रतिकी तुलनामें लिखा है जिसकी प्रयागके इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' के संपादकोंने अधिक महत्त्व दिया था। ऐसा लिखते समय बालकांडके पाठके लिए प्रस्तुत प्रति भी उनके ध्यानमें था, ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर भी, गौड़जी-द्वारा संपादित 'मानस' के बालकांडका पाठ अन्य संपादित प्रतियोंके पाठोंकी अपेक्षा प्रस्तुत प्रतिके पाठके अधिक निकट होनेके कारण नीचे उसीसे कुछ स्थल उद्धृत किए जाते हैं, और फिर वे ही स्थल सं० १६६१ की प्रस्तुत प्रतिसे अविकल उद्धृत किए जाते हैं, जिससे यह विदित हो जावे कि प्रस्तुत प्रतिका उपयोग अभी कहाँतक हुआ है और प्रस्तुत प्रतिके पाठकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं। विशेषताओंको स्पष्ट करनेके लिए निम्न-रेखाओंका प्रयोग कुछ स्वतंत्रता-पूर्वक किया गया है। इससे अपनी प्रतियों के पाठों

^१ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण) पृ० ७, फुटनोट २

^२ वही, भूमिका, पृ० २

का मिलान करनेमें पाठकोंको सुविधा होगी, और साथही साथ प्रस्तुत प्रतिकी प्रमुख विशेषताएँ भी स्वतः स्पष्ट हो जावेंगी—

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाथ अनदि अनूपा ॥
मोरे मत बड नाम दुहँ ते । किय जेहि जुग निज बस निज ॥
प्रौढि सुजन जनि जानहिं जन की । कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥
एक दारु गत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म अवैक ॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तैं । कहँउ नाम बड ब्रह्म राम तैं ॥
ब्यापक एक ब्रह्म अविनासी । सत चेतन धन आनँदरासी ॥
अस प्रभु हृदय अछुत अविकारी । सकल जीव जग दीन वारी ॥
नाम निरूपन नाम जतन तैं । सोउ प्रगटत जिमि माँज रतन तैं ॥

दो०—निरगुन तैं एहि भाँति बड नाम प्रभाउ अपार ।

कहँउ नाम बड राम तैं निज-विचार-अनुसार । ३॥

(२) सो०—लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव वार बहु ।

बोले बिहँसि महेस हरि-माया-बलु जानि जिय ५१॥

जौ तुम्हरे मन अति संदेह । तौ किन जाइ परिच्छ ॥

तब लगि बैठ अहँ बट छाही । जब लगि तुम्ह ऐहहु गो ॥

जैसे जाइ मोह भ्रम भारी करेहु सो जतन बिनक ॥

चली सती सिव आयसु पाई । करइ बिचार करउँ ॥

इहाँ संभु अस मन अनुमाना । दच्छ सुता कहँ ॥

मोरेहु कहे न संसय जाही । बिधि बिपरीत भनाउ ॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तरक बढ़ावइ सा ॥

अस कहि लगे जपन हरि नामा । गई सती जहँ प्रभु सुख धामा ॥

दो०—पुनि पुनि हृदय बिचार करि धरि सीता कर रूप ।

आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूष ॥५२॥

(३) कटि तूनीर पीत पट बाधे । कर सर धनुष बाम वर बाधे ॥

पात - जग्य - उपवीत सोहाए । नखसिख मंजु मा छवि छाए ॥

देवि लोग सब भये सुवारे । एकटक लोचन टरत न टारे ॥

हरपे जनक देवि दोउ भाई । मुनि-पद-कमल गहे तब ॥

करि बिनती निज कथा सुनाई । रंगअवनि सब मुनिहि दे गई ॥

जहँ जहँ जाहि कुअर वर दोऊ । तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ ॥

निज निज रुख रामहिं सब देखा । कोउ न जान कछु मरम बिसेवा ॥

भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ । राजा मुदित महा सुख लहेऊ ॥

दो०—सब मंचन्ह तैं मंच एक सुंदर बिसद बिसाल ।

मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल ॥ २४४ ॥

(४) वामदेव रघु-कुल-गुरु ग्यानी । बहुरि गाधि सुत कथा बखानी ॥

चि - नि सुजस मनहिं मन राज । बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥

बहुरे लोग रजायसु भयऊ । सुतन्ह समेस नृपति गृह गयऊ ॥
जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा । सुजस पुनीत लोक तिहँ छावा ॥
आये ब्यहि राम घर जब तैं । बसे अनंद अवध सब तब तैं ॥
प्रभु बिवाह जस भयउ उछाहू । सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू ॥
कवि-कुल-जीवन-पावन जानी । राम-साय-जसु मंगल खानी ॥
तेहि तैं मैं कछु कहा बखानी । करन पुनीत हेतु निज-बानी ॥

छंद—निज-गिरा-पावन-करन-कारन रामजस तुलसी कहेउ ।

रघु-बीर-चरित अपार बारिधि पार कवि कौनै लहेउ ॥

उपवीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।

बैदेहि-राम-प्रसाद तैं जन सर्वदा सुख पावहीं ॥

सो०—सिय-रघु-बीर-बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं

तिन कहँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजस ॥ ३६१ ॥

सं० १६६१ की प्रतिके अनुसार उपर्युक्त स्थलोंका पाठ क्रमशः इसप्रकार है :—

(१) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥

मोरें मत बढ नामु दुहूँते । किंये जेहि जुग निज बस निज वृते ॥

प्रौढ मुजन जन जानहि जनकी । कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥

एकु दारुगत देखिअ एकु । पावक सम जुग ब्रह्म विवेक ॥

उभय अगम जुग सुगम नामतें । कहेउ नामु बढ ब्रह्म रामतें ॥

व्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी । सत चेतन धन आनंदरासी ॥

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुषारी ॥

नाम निरूपन नाम जतनतें । सोउ प्रगटन जिमि मोल रतनतें ॥

॥ दोहा ॥ निरगुनतें येहि भांति बढ नाम प्रभाउ अपार ।

कहउं नाम बढ रामतें निज विचार अनुसार ॥

(२) ॥ सोरठा ॥ लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव वार बडु ।

बोले विहँसि महेसु हरि माया बलु जानि जिय ॥ ५१ ॥

जौ तुम्हरें मन अति संदेहू । तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥

तब लगि बैठ अहाँ बट छाहीं । जव लगि तुम्ह अँहहु मोहि पाहीं ॥

जैसेँ जाइ मोह भ्रम भारी । करेहु सो जतनु विवेकु विचारी ॥

चलों सती सिव आयसु पाई । करहि विचारु करौ का भाई ॥

इहां संभु अस मन अनुमाना । दक्षसुता कहु नहि कल्याणा ॥

मोरेहु कहें न संसय जाहीं । बिधि विपरीत भलाई नाही ॥

होइहि सोइ जो राम रचि राषा । को करि तर्क बढावै साषा ॥

अस कहि लगे जपन हरि नामा । गई सती जह प्रभु सुषधामा ॥

॥ दोहा ॥ पुनि पुनि हृदय विचार करि धरि सीताकर रूप ।

आगे होइ चलि पंथ तेहि जेहि आवत नरभूप ॥ ५२ ॥

(३) कटि तूनीर पीत पट बाधैं । कर सर धधुष वाम वर काधैं ॥
पीत जग्य उपवीत सोहाये । नष सिष मंजु महा छवि छाये ॥
देषि लोग सब भये सुषारे । एकटक लोचन चलत न तारैं ॥
हरषे जनकु देषि दोउ भाई । भुनि पद कमल गहे तव जाई ॥
करि विनती जिन कथा सुनाई । रंग अरुनि सब मुनिहि देषाई ॥
जहं जहं जाहिं कुअर वर दोऊ । तहं तहं चकित चितव सब कोऊ ॥
निज निज रूप रामहिं सबु देषा । कोउ न जान कछु मरमु विसेषा ॥
भलि रचना मुनि नृपसन कहेऊ । राजा मुदित महा सुषु लहेऊ ॥

॥ दोहा ॥ सब मंचन्हतें मंचु एकु सुंदर विसद विसाल ।

मुनि समेत दोउ वंधु तह वैठारे महिपाल ॥ २४४ ॥

(४) वामदेव रघुकुल गुर ज्ञानी । बहुरि गाधि सुत कथा वषानी ॥
सुनि मुनि नुजसु मनहि मन राऊ । बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥
बहुरे लोग रजाएसु भएऊ । सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ ॥
जहं तहं रामु व्याहु सब गावा । सुजख पुनीत लोक तिहु छावा ॥
आये व्याहि रामु घर जव तैं । वसे अनंद अवष सब तव तैं ॥
प्रभु विश्राह जस भयउ उद्धाह । सकहिं न वरनि गिरा अहिनाह ॥
कविकुल जीवनु पावन जानी । राम सीय जसु मंगल पानी ॥
तेहिते मै कछु कहा वषानी । करन पुनीत हेतु निज वानी ॥

॥ छंद ॥ निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कछो ।

रघुवीर चरित अपार वारिधि पारु कवि कीने लछो ॥

उपवीत व्याह उद्धाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।

वैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्वदा सुषु पावहीं ॥

॥ सोरठा ॥ सिय रघुवीर विवाहु जे सप्रेम गावहि सुनहि ।

तिन्ह कहु सदा उद्धाहु मंगलायतन रामजसु ॥ ३६१ ॥

प्रतिलिपि करनेमें जो भूलें असावधानीके कारण होजाती हैं उनका विचार थोड़ी देरके लिए अलग रखकर, पाठोंकी शुद्धता और अशुद्धताके विषयमें जब हम कहा करते हैं तब हमारा आशय मूल-प्रतिके पाठसे उस पाठकी सन्निकटतासे होता है जिसके पाठका हम उल्लेख करते हैं । हमारी प्रतिका पाठ मूल-प्रतिके पाठसे जितना ही निकट होता है उतना ही हम उसे शुद्ध कहते हैं, और वह जितना ही दूर होता है उसे हम उत्तना ही अशुद्ध कहते हैं । ‘शुद्ध’ और ‘अशुद्ध’ इन दो शब्दोंके अतिरिक्त हिंदी ग्रंथोंके संपादनमें एक और शब्दका प्रयोग किया गया है—वह शब्द ‘उत्तम’ है । जहाँपर इस शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ

मूल-पाठसे सन्निकटता कुछ अधिक आदरणीय वस्तु नहीं समझी जाती। यदि हमारी प्रतिका पाठ भावकी दृष्टिसे अन्य किसी प्रतिके पाठसे अधिक काव्योचित होता है, या वह भाषाकी दृष्टिसे अन्य किसी प्रतिके पाठकी अपेक्षा व्याकरणके प्रचलित रूपोंकी अधिक रक्षा करता हुआ दिखाई देता है तो हम अधिकतर कहा करते हैं कि हमारी प्रतिका पाठ उस दूसरी प्रतिके पाठकी अपेक्षा उत्तम है। 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' शब्दोंका प्रयोग भी असावधानीसे कभी-कभी इसी आशयमें किया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी अधिकतर संपादित पुस्तकोंमें इस बातपर विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है कि कवि या रचयिताने वस्तुतः क्या लिखा होगा। फलतः इन संपादित पुस्तकोंके आधारपर उसकी भाषा और शब्दोंके रूपोंके संबंधमें किसी निष्कर्षपर पहुँचना और भी अधिक अनिश्चयात्मक हो गया है। तुलसीदासजीकी अवधीका क्या रूप था, यह एक स्वतंत्र लेखके उपयुक्त विषय है, इसलिए अभी हम उसके किसी प्रकारके विस्तारमें नहीं जा सकते। ऊपर बालकांडके कुछ स्थल श्रीरामदास गौड़जी-द्वारा संपादित 'राम-चरितमानस' से लेकर उन्हींको सं० १६६१ वाली प्रतिसे भी उद्धृत किया जानेका मुख्य अभिप्राय इतना ही है, कि इस पिछली प्रतिके पाठकी प्रमुख विशेषताएँ पाठकोंको ज्ञात हो जायँ और उसका साधारण परिचय उन्हें मिल जाय। पाठोंकी 'उत्तमता' का दृष्टिकोण हमें थोड़ी देरके लिए अलग रखकर उनकी 'शुद्धता' की ओर ध्यान देना चाहिए। पाठकोंको कदाचित् उपर्युक्त प्राचीन प्रतिका ही पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ेगा। उसकी प्रमुख विशेषताएँ बहुत कुछ स्वतः स्पष्ट हैं। केवल एक मोटी विशेषताकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करके लेख समाप्त करना है, वह है शब्दोंके उकारांत रूपोंकी। प्रचलित प्रतियोंमें उकारांत रूप कभी-कभी मिल जाया करते हैं, किंतु साधारणतः उनका वहिष्कार किया गया है। प्रस्तुत प्रतिमें यह रूप बहुतायतसे मिलता है, जैसा ऊपरके उद्धरणोंसे ज्ञात होगा। राजापुरकी प्रतिमें भी यह बाहुल्य इसीप्रकार मिलता है। जान पड़ता है, जितना ही हम इधर आते हैं यह रूप उतना ही लुप्त होता गया है, इसीलिए इधरकी हस्तलिखित प्रतियोंमें भी वह बहुत कम मिलता है। किंतु तुलसीदासजी स्वयं इसका प्रयोग प्रचुर परिमाणमें करते थे, यह पंचनामेमें आए हुए इस दोहेसे प्रकट है—

तुलसी जान्यो दसरथहिं धरमु न सत्य समान ।

राम तजे जेहि लागि विनु रामु परिहरे प्रान ॥

‘विनयपत्रिका’ में सुरक्षित तुलसीदासके आध्यात्मिक विचार

तुलसीदासके आध्यात्मिक विचारोंका कुछ-न-कुछ परिचय तो उनकी प्रत्येक रचनासे मिल सकता है, किंतु उनका जितना यथातथ्य, स्पष्ट और बहुत-कुछ पूर्ण परिचय हमें ‘विनय-पत्रिका’ के पदोंसे मिल सकता है, उतना कदाचित् उनकी अन्य रचनाओंमें से किसीसे नहीं। इसका कारण भी प्रकट ही है। ‘विनयपत्रिका’ के पदोंमें कविने बड़ी ही तन्मयता और आत्म-विस्मृतिके साथ अपने समस्त उद्गारोंको व्यक्त किया है। फिरभी, हमने अभीतक इन पदोंका केवल इतना उपयोग किया है कि विशेषतः ‘रामचरितमानस’ के आधारपर कविके दार्शनिक विचारोंका विवेचन करते हुए एकाध स्थल पर इनके कुछ अंश-भर उद्धृत कर देनेकी उदारता दिखाई है। फलतः, लेखक प्रस्तुत निबंधमें केवल इन पदोंमें व्यक्त कविके आध्यात्मिक विचारोंका यथा-शक्ति उसीके शब्दोंमें उल्लेख करनेका प्रयास कर रहा है, और आशा करता है कि विद्वानोंका ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा।

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी ॥ १२१ ॥

कविके आध्यात्मिक विचारोंका प्रारंभ कदाचित् इसी विश्वाससे होता है कि साधारण दृष्टिसे देखनेपर जिस संसारको हम रमणीय समझते हैं, परिणाममें वह बड़ा ही भयंकर है। जिसे हम सुखप्रद समझते हैं, विचार करनेपर वही निस्सार निकलता है—तृपार्त होकर हम जलकी खोजमें निकलते हैं, किंतु हमें मिलती है मृग-मरीचिका मात्र। इसीसे हम और भी दुखित होते हैं—

मैं तोहि अब जान्यो संसार ।

बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपटआगार ॥

देखत ही कमनीय, कछु नाहि न पुनि किए बिचार ।

ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥

तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार ।

महा मोह मृगजल सरितामहँ बोरयो हौं बारहि बार ॥ १८८ ॥

यह रचना देखनेमें अत्यंत विचित्र है, यद्यपि परिणाममें बड़ी भयानक भी है। किंतु, स्वतः यह सत्य है या असत्य, या अंशतः सत्य और अंशतः

असत्य, यह कहना कठिन है। कवि तो इन तीनों विचारोंको भ्रम-मात्र मानता है—

केसवकहि न जाइ का कहिए।
 देखत तव रचना विचित्र अति समुक्ति मनहिं मन रहिए ॥
 सत्य भीतिपर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
 धोए मिटैन मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हरे ॥
 रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहिमाँहीं।
 बदन हीन सो ग्रसैचराचर पान करन जे जाहीं ॥
 कोउ कह सत्य भूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
 तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ॥ १११ ॥

किंतु, इस संसारके हमारे लिए भयानक होनेका कारण हमारा ही भ्रम अथवा अविवेक है, इसमें संदेह नहीं—

हे हरि यह भ्रम की अधिकार है।
 देखत सुनत कहत समुक्त संसय संदेह न जाई ॥
 जो जग मृषा तापत्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे।
 कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रमतेँ दुख होइ बिसेखे ॥
 सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूडत भय लगै।
 कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लागि आपु न जायै ॥ १२१ ॥
 अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
 बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीरकी नाई ॥
 सपने व्याधि विविधि बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई।
 वैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई ॥
 सपने नृप कहँ घटै विप्रबध बिकल फिरै अघ लागे।
 बाजिमेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे ॥
 स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होय अविचारे।
 बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहि मरै न मारे ॥
 निज भ्रमतेँ रबिकर संभव सागर अति भय उपजावै।
 अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहुँ पार न पावै ॥ १२२ ॥

रस्सीको देखकर हमें सर्पका भ्रम होता है और हम भयभीत होते हैं, इस भयको दूर करनेके दो उपाय हो सकते हैं—या तो रस्सी हमारे सामनेसे हट जावे या हमीं अपनी चेतनाको सँभालें। पहलेकी अपेक्षा दूसरे उपायका प्रयोग ही अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि बिना किसी स्थूल आधारके भी भ्रमका अस्तित्व संभव है, जैसे स्वप्नमें हम समुद्रमें डूबनेकी यातनाका अनुभव करें—यहाँपर रस्सीकी भाँति कोई स्थूल-आधार नहीं है। फलतः संसार-त्याग अथवा कर्म-

सन्यासकी विशेष आवश्यकता नहीं है, वास्तविक आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपनी चेतनाको जाग्रत करें। जो दुःख हम उठा रहे हैं, वह हमारे ही मनकी मूढ़ताके कारण है। इसी मूढ़ मनके बहँकावेमें आकर अनेक जन्मतक हम अपना दुःख रोते रहे ! अभीतक हमने किया ही क्या ? कर्मोंमें आसक्त होकर उसके कीचड़में हम अपनी चेतनाको जो लिप्त करते रहे हैं, कहीं इससे भी वह निर्मल हो सकती है ?

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ॥

सीतल मधुर पिथूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो ।

बहु भौंतिन स्रम करत मोह बस बृथहिं मंदमति बारि बिलोयो ॥

करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो ।

तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिरि बिकल अकाश निचोयो ॥

तुलसीदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछु नहिं गोयो ।

ढासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नौद भरि सोयो ॥ २४५ ॥

इंद्रियोंके विषयोंमें दिनरात भटकते हुए हमारे मनने कभी विश्राम नहीं किया। यद्यपि इस बीच उसे दुःखोंका ही सामना करना पड़ा फिर भी वह जान-बूझकर उनसे विरत न हुआ। अबतक तो चित्तको वह कर्म-कीचमें ही लिप्त करता रहा और उसे निर्मल करनेकी शक्ति जिसमें है, उस विवेक-नीरकी प्राप्ति उसने तनिक भी उद्योग नहीं किया—

कबहुँ मन विश्राम न मान्यो ।

निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥

जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुभान्यो ।

तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानत हूँ नहि जान्यो ॥

जनम अनेक किए नाना विधि करमकीच चित सान्यो ।

होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ॥

निज हित नाथ पिता गुरु हरिसौं हरषि हृदय नहिं आन्यो ।

तुलसीदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥ ८८ ॥

यह कहना तो सरल है कि मनको शुद्ध कर लेनेसे ही सारा काम बन जायगा, किंतु इसको व्यवहारमें लाना दुस्साध्य है क्योंकि मन हमारे कहनेमें नहीं आता। यदि वह हमारा कहना ही मानता तो हम यह दुर्गति क्यों भोगते ? उसको हम रात दिन अनेक शिक्षाएँ देते हैं, फिरभी वह अपना कुटिल स्वभाव नहीं छोड़ता है—

मेरो मन हरि हठ न तजै ।

निसि दिन नाथ देउं सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै ॥
ज्यो युवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ॥
है अनुकूल बिसारि सल सठ पुनि खल पतिहि भजै ॥
लोलुप भ्रम गृहपशु ज्यो जहूँ तहूँ सिर पदत्रान बजै ॥
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥
हौं हारयो करि जतन बिबिधि बिधि अतिसय प्रबल अजै ॥
तुलसीदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ ८९ ॥

**इसी मनके लिए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि कितने ही साधन हमने
इफटे किए, किंतु तब भी इसने अपने अहम्मन्यत्व और लोभको न छोड़ा—**

हे हरि कवन जतन भ्रम भागै ।

देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै ॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपागै ॥
कोउ भल कहै देउ कछु कोऊ असि बासना न उरतें जाई ॥ ११९ ॥

**विचित्र हैं इसके आचरण भी; कभी तो यह दीन बना रहता है, और कभी
अभिमानी राजा बन बैठता है; कभी तो निरा मूर्ख बनता है, फिर कभी
धर्मात्मा पंडित होनेका स्वांग करता है—**

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुणीक रघुराई ।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिविधि ज्वर करत फिरत बौराई ॥
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ वियोगबस होई ।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई ॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी ।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत कबहुँ धरमरत ज्ञानी ॥ ८१ ॥

**जिन इंद्रियोंके द्वारा हमारा मन अनेक दुष्कर्मोंमें अबतक लिस रहा,
उन्हींसे यदि वह चाहता तो कितने ही शुभ अनुष्ठान कर सकता था । किंतु वह
सब उसने कुछ नहीं किया—**

यों मन कबहुँ तुमहिं न लाग्यो ।

ज्यो छल छांडि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ॥
ज्यो चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर घरके ।
त्यो न साधु सुरसरि तरंग निर्मल गुनगन रबधुरके ॥
ज्यो नासा सुगंध रस बस रसना षट रस रतिमानी ।
रामप्रसाद माल जूँठनि लागि त्यो न ललकि ललचानी ॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन षट ज्यो चह पाँवर परस्यो ।
त्यो रघुपति पद पदुम परसको तनु पातकी न तरस्यो ॥

ज्यों सब भौंति कुदेव कुठाकुर सेए बपु बचन दिए हैं ।
 त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हैं ॥
 चंचल चरन लोभ लागि लोलुप द्वार द्वार जग बागे ।
 राम सीय आस्रमनि चलत त्यों भए न श्रमित अभागे ॥ १७० ॥

मनकी शुद्धिके लिए यों तो जप, तप, तीर्थ, योग और समाधि आदि अनेक साधन पुराणों और श्रुतियोंमें वर्णित हैं, किंतु प्रबल कलिकालने उन सब की शक्तिका ह्रास कर दिया है । फलतः इस कलिकालमें हमारे भ्रमका नाश एक हरि-कृपासे ही संभव है—

जप तप तीरथ जोग समाधी । कलि मति विकल न कजु निहपाधी ॥
 करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं । रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥
 हरनि एक अघ अरुर जाजिका । तुलसिदास प्रभु कृपा कलिका ॥ १२८ ॥

माया, मोह, अथवा भ्रम का संयोग इस जीवके साथ केवल ईश्वर की प्रेरणासे हुआ है इसीलिए उस मायाका नाश भी ईश्वरकी कृपासे ही संभव है—

दोष निलय यह विषय सोकप्रद कइत संत सुति टेरे ।
 जानत हूँ अनुराग तहाँ हरि सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ॥ १८६ ॥

हैं सुति विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरे ।
 तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँधो सोइ छोरे ॥ १०२ ॥

सब प्रकार मैं कठिनमृदुल हरि दृढ़ विचार जिय मोरे ।
 तुलसिदास यह मोह सुखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥ ११४ ॥

हे हरि कस न रहहु भ्रम भारी ।
 जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लागि नहि कृपा तुम्हारी ॥ १२० ॥

अस कछु समुक्ति परत खुराया ।
 बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया ॥ १२३ ॥

संक्षेपमें, कविका यह दृढ़ विश्वास है कि बिना हरि-कृपाके हमारे भ्रमका नाश असंभव है—

माधव असि तुम्हारि यह माया ।

करि उपाय पचि मरिय तरिय नहि जब लागि करहु न दाया ॥
 सुनिय गुनिय समुक्तिय समुक्ताइय दसा हृदय नहि आवै ।
 जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै ॥
 ब्रह्म पिपूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै ॥
 तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर आवै ॥

जेहिके भवन विमल चितामनि सो कत काँच बढोरै ।

सपने परबस परयो जानि देखत केहि जागि निहोरै ॥

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य भूँठ कछु नाहीं ।

तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस न माहीं ॥११६॥

इसप्रकार, क्रमशः हम यह देखते हैं कि संसार दुःखमय है । दुःखका कारण हमारा ही भ्रम है । भ्रमके नाशके लिए संसार-त्याग या कर्म-सन्त्यास नितांत आवश्यक नहीं । यदि अपना मन ही समस्त विकारोंको छोड़कर अपने सहज-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर ले तो हमारे भ्रमका स्वतः नाश हो जाय और पुनः वही संसार सुखमय हो जाय । किंतु अपने सहज-स्वरूपका ज्ञान तो सरल नहीं है, क्योंकि हमारा मन स्वभावतः ऐसे कर्मोंमें आसक्त रहा करता है कि वह और भी विकार-ग्रस्त होता जाता है, फलतः इसकी शुद्धि और भ्रमका नाश हरि-कृपासे ही संभव है । कारण यह है कि जिसकी प्रेरणासे मायाने इस जीवको आच्छादित कर लिया है, उसीके कहने से वह उसे छोड़ भी सकती है, अन्य साधन भी इस भ्रमके नाशके लिए श्रुतियों और पुराणोंमें कहे गए हैं, किंतु कलिकालके आतंकसे वे सभी निर्बल हो गए हैं । केवल एक साधन शेष रहता है, वह है रामके चरणोंमें अनुरक्ति । बिना इस अलौकिक जलके हमारे जन्मोंका मल दूर नहीं हो सकता—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई ।

जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटारै ॥

नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे ।

हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥

पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए ।

सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए ॥

तुलसिदास व्रतदान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै ।

रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥८२॥

यदि हम बिना योग, यज्ञ, तप आदिके संसारसे मुक्त होना चाहते हैं तो बस यही करना है कि दिन-रात रामके चरणोंका चिंतन करते रहें—

जो बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो चहत भव पारहि ।

तौ जनि तुलसिदास निसिबासर हरि पद कमल बिसारहि ॥८५॥

अन्य साधनोंकी अपेक्षा भक्तिका मार्ग बहुत सीधा है । निरे ज्ञानसे यदि हम आत्म-परिचय चाहते हैं तो बड़ा समय लगेगा—

रघुपति भगति बारि झालित चित बिनु प्रयास ही सूझै ।

तुलसिदास कह चिद-विलास जग बूझत बूझत बूझै ॥१२४॥

हमारे कविको तो कोई दूसरा भरोसा नहीं दिखाई पड़ता, दूसरे लोग चाहे जो करें। उसका कहना है कि उनके कर्मोंका फल जब उन्हें मिल जायगा तभी वे उसके कथनकी सत्यतापर विश्वास करेंगे। उसके गुरुने तो अनेक मतोंको सुनकर, अनेक पंथों और पुराणोंका अध्ययन करनेके अनंतर, और सभी भगड़ोंका निर्णय करके उसको रामकी भक्तिका उपदेश किया, वही उसे राजमार्ग-सा लगता है।

नाहिंन आवत आन भरोसा।

यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो से ॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो से।
पाण्हि पै जानिबो करमफल भरिभरि वेद परो से ॥
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो से।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो से ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो से।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम धरो से ॥
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहां तहां भगरो से।
गुरु कछो राम भजन नीको मोहिं लगत राज ढगरो से ॥
तुलसी बिनु परतीत प्रीति फिरि फिरि पचि भै मरो से।
रामनाम बोहित भव सागर चाहै तरन तरो से ॥१७३॥

किंतु ‘रघुपति-भक्ति’ कहनेको ही सरल है, उसका निर्वाह अत्यंत कठिन है, विरजे ही व्यक्तियोंको उसका अनुभव है। उसके लिए हमें द्वैत-भावनाका सर्वथा त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि बिना इस द्वन्द्व-त्यागके हम रामके चरणोंमें उत्पन्न उस अलौकिक सुखका न तो अनुभव कर सकते हैं, और न हमारे अमका नाश होता है—

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।

कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकतामहँ बलतें न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी ॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं।
तुलसीदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥ १६७ ॥

यदि हम अपने मनको इंद्रियोंके विषयोंसे खींचकर रामके चरणोंमें स्थापित कर सकें तभी हमारी भक्ति दृढ़ हो सकती है, किंतु यह भी तभी संभव है जब

हमारी दस इंद्रियोंके प्रतीक-रूप दशाननके नाश करनेवाले राम करुणासे प्रवित हों—

सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस ।

तुलसिदास यह होहि तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ॥२०४॥

इतनी करुणाकी पूँजी प्राप्त करना कठिन नहीं है, उसके लिए बस इतना ही चाहिए कि हम रामके मनमें यह बात बिठला दें कि हम उनसे प्रेम करते हैं । हमें अपने कर्मोंकी अच्छाई-बुराई अथवा अपने संस्कारोंके दूषित होने की चिंता न करनी चाहिए । नीचोंसे भी उनके प्रेमका आभास-मात्र पा जानेपर प्रेम करना रघुबीरकी साधारण 'बानि' है—

श्री रघुबीरकी यह बानि ।

नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥

परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि ।

लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ॥

गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि ।

जनक ज्यों रघुनाथ ताकहूँ दियो जल निज पानि ॥

प्रकृति मलिन कुजाति सबरो सकल अवगुन खानि ।

खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि ॥

रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि ।

भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ॥

कौन सुभग सुशील बानर जिनहिं सुमिरत हानि ।

किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥

राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि ।

भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥ २१५ ॥

—और, यदि कोई व्यक्ति उनका दास हो जाता है तो वे स्वयं उसीके वशमें हो जाते हैं, रामकी यह भी पुरानी रीति है—

ऐसी हरि करत दासपर प्रीति ।

निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति ॥

जिन बाँधि सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरी ।

सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति बाँध्यो हठि सकत न छोरी ॥

जाकी माया बस बिरंचि शिव नाचत पार न पायो ।

करतल ताल बजाइ गबाल जुवतिन तेहि नाच नचायो ॥

विश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख ।

बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु है द्विज माँगी भीख ॥

जाको नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार ।

अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यौ दस बार ॥

जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी ।
बानर भालु चपल पशु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी ।
तुलसीदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बैत कर धारी ॥ ९८ ॥

राम तो अकेला प्रीतिका ही नाता रखते हैं, और उसके आगे अन्य सभी नातोंको नीचा मानते हैं । उनके स्नेह और शील-स्वभावसे यदि हम भली-भाँति परिचित हो जावें तो हम स्वतः उनके भक्त हो जावेंगे—

जानत प्रीति रीति खुलाई ।

नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ॥
ऐसेहुँ पितुँ अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई ॥
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई ॥
रन परयो बंधु विभीषन हो को सोच हृदय अधिकारै ॥
घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुँचाई ॥
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई ॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत सकुचि सिर नाई ॥
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ॥
तेरो रिनी हौं कखो कपीस सौं ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई ॥
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ॥ १६४ ॥

रामकी भाँति हमें अन्य स्वामी नहीं मिल सकता । प्रेम करनेवालेसे कौन कहे, द्रोह करनेवालेसे भी वे स्वयं प्रेम ही करते हैं, दूसरा ऐसा स्वामी हमें कहाँ मिलेगा ?

ऐसी कौन प्रभुकी रीति ।

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनिपर प्रीति ॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादव राइ ॥
काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह ॥
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आपमें हरि राज सभा मँभारि ॥
व्याध चित दै चरन मारयो मूढ़ मति मृग जानि ।
सो सदेह सुलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अध दोउ ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥ २१४ ॥

फलतः, जब हम रामके संपूर्ण कृत्योंका अनुशीलन करते हैं, तो एक विशेषता हमें समान-रूपसे सर्वत्र मिलती है—वह है उनका शील-स्वभाव । बचपनसे लेकर राज्यारोहणतक उनका छोटेसे छोटासे लेकर बड़ेसे बड़ा कार्य इसीसे ओत-प्रोत है । इसलिए, यदि हम इस शीलको ध्यानमें रखते हुए रामकी शुभ-गाथाका मनन करें तो निस्संदेह हमारे चित्तमें स्वतः रामके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा, और इसी अनुरागकी वृद्धिसे हमें अनायास ही उनके प्रेमका प्रसाद भी प्राप्त हो जाएगा—

मुनि सीतापति सील सुभाउ ।

मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥
 सिधुपनतें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।
 कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥
 खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ ।
 जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥
 सिला साप संताप विगत भइ परसत पावन पाउ ।
 दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिताउ ॥
 भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
 छमि अपराध छमाइ पाँइ परि इतौ न अनत समाउ ॥
 कछो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ ।
 ता कुमातुको मनु जोगवत ज्यों निज बनु मरम कुघाउ ॥
 कपि सेवा बस भए कनौड़े कछो पवनसुत आउ ।
 देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ ॥
 अपनाए सुग्रीव विभीषन तिन न तज्यो छल छाउ ।
 भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥
 निज करुना करतूति भगन पर चपत चलत चरचाउ ।
 सकृत् प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥
 समुक्ति समुक्ति गुन ग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ ॥
 तुलसिदास अनयास राम पद पाइहै प्रेम पसाउ ॥ १०० ॥

रामकी गुन-गाथाके मननके अतिरिक्त उनकी कृपा-प्राप्तिका एक अन्य सहयोगी उपाय भी है—वह है नाम-स्मरण । राम-नामके जपसे हृदयकी ज्वाला शांत होती है । कर्म तथा ज्ञानके साधन कलिकालकी कलालतासे शक्तिहीन हो गए हैं, इसीलिए काशीमें मरते हुए व्यक्तिको शिव भी उसकी मुक्तिके लिए इसी मंत्रका उपदेश किया करते हैं । यदि केवल हम नाम-स्मरणका ही अवलंब करें तो भी राम स्वतः हमारे ऊपर कृपालु हो जायेंगे—

राम नामके जपे जाइ जियकी जरनि ।

कलिकाल अपर उपात ते अपाय भए जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि ॥
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूलै तरु फोकट फरनि ।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदर भरनि ॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान वचन बिसेष बेष कहूँ न करनि ।
कपट कुपथ कोटि कहनि रहनि खोटि सकल सराहूँ निज निज आचरनि ॥
मरत महेश उपदेश हैं कहा करत सुरसरि तीर कासी धरम धरनि ।
राम नामको प्रताप हर कहूँ जपै आपु जुग जुग जाने बग बेदहूँ वरनि ॥
मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनाम ही की बिपति हरनि ।
राम नामसों प्रीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥ १८४ ॥

ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिसकी रक्षा रामने अपने नामकी लज्जा रखनेके लिए न की हो, इसी विश्वाससे कवि कितने ही कष्टोंको भेलता हुआ भी अपना हठ नहीं छोड़ता है । कभी-न-कभी तो उसकी प्रार्थना सुनी जाएगी—

सो धौं को जो नाम लाजतें नहीं राख्यो खुबीर ।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरौ सकल भव पीर ॥
बेद बिदित जग बिदित अजामिल बिप्र बंधु अघधाम ।
घोर जमालय जात निवारयो सुत हित सुमिरत नाम ॥
पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत् सपदि आप प्रभु हरयो दुसह उरदाह ॥
व्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल ।
नाम ओटतें राम सबनिकी दूर करी सब सूल ॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते खुकुल भूषन भूप ।
सीदत तुलसीदास निसि बासर परयो भीमतम कूप ॥ १४४ ॥

‘दूसरोंको जिसपर विश्वास हो वे उसका भरोसा करें, तुलसीदासको तो इस कलिकालमें नामका कल्याण-कल्पतरु मिल गया है । कर्म, ज्ञान और उपासना आदि सभी मार्ग वेदोंसे प्रमाणित हैं, किंतु तुलसीदासको तो सावनके अंधेकी तरह नामकी ही हरियाली सूझती है । कभी वह कुत्तोंकी तरह बुधा-वृत्तिके लिए पत्तलें चाटता फिरता था, आज वही नाम-स्मरण-मात्रसे अपने सामने अमृत परसा हुआ देख रहा है । जिसका जिससे प्रेम हो वह उससे करे, किंतु तुलसीदास तो अपने माता-पिता-स्वरूप नामके दो अक्षरोंसे बच्चे की भाँति हठ कर रहा है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।

मोको तो रामको नाम कल्पतरु कलि कल्याण फरो ॥
करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावनके अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ॥

चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
 सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो ॥
 स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो ।
 सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो ॥
 प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो ।
 भेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो ॥
 संकर साखि जो राखि कहाँ कछु तौ जरि जीह गरो ।
 अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहिं समुझि परो ॥ २२६ ॥

किंतु, नामसे भी हमारी साधारण लगन न होनी चाहिए, उससे हमारी वैसी ही इद लगन होनी चाहिए जैसी चातकको नवीन मेवसे होती है बादल गरजकर, कड़ककर, और वज्र की वर्षा करके पपाहेके प्रेमकी परोक्षा करता है, किंतु इन सब कठिनाइयोंसे चातकके हृदयमें अधिकाधिक अनुराग ही उमँगा करता है। हमें भी यही उचित है कि हम पपीहेका अनुकरण करते हुए उसी दुर्गम एकांगी प्रेम-मार्गके पथिक बनें और इसकी तनिक भी चिंता न करें कि हमारा प्रेम-पात्र भी हमसे प्रेम करता है या नहीं। हमारा हित इसी बातमें है कि हम अपनी ओरसे अविचलित-चित्त होकर इस नियमका पालन करते जायँ—

राम राम रसु राम राम रडु राम राम जपु जीहा ।
 राम नाम नवनेह मेहको मन हठ होहि पपीहा ॥
 सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा ।
 राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सोकर प्रेम पियासा ॥
 गरजि तरजि पाषाण बरसि पवि प्रीति परखि जिय जाने ।
 अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचाने ॥
 राम नाम गति रामनाम मति राम नाम अनुरागी ।
 हूँ गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़ भागी ॥
 एक अंग मग अगम गवन करि बिलसु न छिन छिन छावैं ।
 तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं ॥ ६५ ॥

नाम-स्मरणके अतिरिक्त राम-भक्तिका एक अन्य सहयोगी मार्ग भी है— वह है रामके दरवाज़ेपर बैठकर यही याचना करना कि हमें और कुछ भी नहीं चाहिए, हम केवल उनकी भक्तिके भूखे हैं। हमारी यह भूख कुछ इसी जन्मकी नहीं, वह न जाने कितने जन्मोंकी है। कई जन्मोंके अनंतर तो साधन-धाम यह मानव-देह प्राप्त हुआ, यदि इस देहसे भी यह असाधारण छुधा न मिट सकी तो आगे न जाने कितने जन्मोंतक भूखा ही रहजाना पड़ेगा। इसी विश्वाससे कवि कैसी हृदय-द्रावक प्रार्थना करता है !

द्वार हौं भोर हो को आज ।

रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज ।
नीच जन मन ऊँच जैसी कोढ़में की खाज ॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज ।
मोहँ से कोउ कतहुँ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥
दीनता दारिद दलैको कृपा बारिधि बाज ।
दान दसरथ रायके तुम बानइत सिरताज ॥
जनमको भूखो भिखारी हौं गरीब नैवाज ।
पेट भरि तुलसिहि जेवाँइय भगति मुधा सुनज ॥ २१९ ॥

‘भगवन्, आप ही बताइए दूसरा ‘दीनबंधु’ मुझे कहाँ मिलेगा, मैं तो जिसके ही विषयमें अपना ध्यान दौड़ाता हूँ, वही मुझे अयोग्य या अकृपालु दिखाई पड़ता है। मैंने माना कि मैं अपने मुखसे आपका सेवक बनता हुआ भी लालची और कामी हूँ, किंतु कुछ अधिक तो आपसे माँगता भी नहीं। मेरी याचना तो इतनेके ही लिए है कि मुझे आप अपने द्वारपर पड़ा रहने दें और अपने गुणोंका कीर्तन करते रहने दें—’

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों ।

को तुम विनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों ॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहि डोलावों ।
इहै ससुम्नि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गवावों ॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौ बातन जलधि थहावों ।
अति लालची कामकिंकर मन मुख रावरो कहावों ॥
तुलसी प्रभु जियकी जानत सब अपनी कछुक जनावों ।
सो कीजे जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों ॥ २३२ ॥

‘भगवन्, यदि आप यह समझते हों कि मैं अन्यत्र कहीं नहीं गया और सीधा आपके ही पास आया, तो आपका यह अनुमान ठीक नहीं है। मैंने तो कोई भी ऐसा दरवाजा न होगा जिसको न खटखटाया हो, ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिसके आगे शीश न झुकाया हो, और अपना छुधार्त पेट न ‘खलाया’ हो। चारों ओर सिर मारकर ही अंतमें आपकी शरणमें आया हूँ। बड़ी दूरसे आप का यश सुनकर सेवामें उपस्थित हुआ हूँ, तुलसीदासको आश्वासन दीजिए—’

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो ।

राम रावरे विन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ॥

आस बिबस खास दास हूँ नीच प्रभुनि जनायो ।

हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो ॥

असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो ।
 महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो ॥
 नाथ हाथ कुछ नाहि लग्यो लालच ललचायो ।
 साँच कहौ नाच कौन सो जो न मोहि लोभ लघु निलज नचायो ॥
 सवन नयन मन मग लगे सब थलपति ताबो ।
 मूढ़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो ॥
 दसरथके समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो ।
 तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो ॥ २७६ ॥

‘मेरा और कौन है ? किससे कहूँगा ? सब प्रकारकी अपने मनकी उच्च आकांक्षाओंको किसको सुनाकर सुख लाभ करूँगा ? मुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि फलोंकी तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि आपका बाल-क्रीड़ाके लिए खग, मृग, तरु, अथवा किंकर होकर आपका प्रीति-पात्र बना रहूँ । इसी नाते मुझे नरकमें भी सुख मिलेगा और इसके बिना स्वर्ग भी मुझे दुखदायी होगा । दासके हृदयमें इसीकी इतनी लालसा है कि वह आपकी जूर्त उठाकर कहता है कि या तो आप स्पष्ट बचन दीजिए, अन्यथा अपने हृदयमें लिख लीजिये कि आप तुलसीके इस प्रण का निर्वाह करेंगे ।

और मोहि को है काहि कहिहौ ।
 रंक राज ज्यों मनको मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौ ॥
 जम जानता जोनिसंकट सब सहे दुसह औ सहिहौ ।
 मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौ ॥
 खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौ रहिहौ ।
 यहि नाते नरकहु सचु पइहौ या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौ ॥
 इतनी जिय लालसा दासके कहत पानही गहि हौ ।
 दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसीको पन निर्वहिहौ ॥ २३१ ॥

कविने ऊपर दिखाए गए राम-भक्तिके तीन प्रमुख साधनों—शील-स्वभाव चिंतन, नाम-स्मरण और आर्त-निवेदन—का महत्व एक ही पदमें इसप्रकार कहा है—

स्वामीको सुभाव कह्यो सो जब उर आनि है ।
 सोच सकल मिटिहैं राम भलो मानिहै ॥
 भलो मानिहै खुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै ।
 ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै ॥
 जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहि धरि दिए ।
 बिचरहि अबनि अबनीस चरन सरोज मन । मधुकर किए ॥ १३५ ॥

ऊपरके उपदेशोंको अन्यत्र पुनः कविने इसप्रकार व्यक्त किया है—

बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगे न आधु ।
 पाहि कृपानिधि प्रेमसों कहे को न राम कियो साधु ॥
 बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान ।
 सुनि सनमुख जो न रामसों तेहि को उपदेसहि ज्ञान ॥
 का सेवा सुग्रीवकी का प्रीति रीति निरबाहु ।
 जासु बंधु बन्धो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु ॥
 जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु ।
 सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु ॥
 सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर ।
 गावत गुन गन रामके केहिकी न मिटी भव भीर ॥
 प्रभु कृतज्ञ सरबज्ञ हैं परिहर पाङ्गिली गलानि ।
 तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान पहिचानि ॥ १९३ ॥

राम-भक्तिका एक अन्य अनिवार्य अंग सत्संग है, किंतु संतोंका संग भी हरि-कृपासे ही होता है । फलतः इस उद्देश्यसे भी कविने भगवान्‌का गुण-गान किया है—

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी । सो भय ताप सोक त्रय हारी ॥
 बिनु सतसंग भगति नहिं होई । ते तब मिलैं द्रवै जब सोई ॥
 जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए ।
 जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए ॥
 जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए ।
 मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोधतैं सहजहिं गए ॥
 सेवत साधु द्वैत भय भागे । श्री रघुवीर चरन चित लागे ॥
 देह जनित विकार सब त्यागे । तब फिर निज स्वरूप अनुरागे ॥
 अनुराग सो निज रूप जो जग तैं विलच्छन लेखिए ।
 संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न देखिए ॥
 निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न व्यापई ।
 त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥
 जो तेहि पंथ चलै मन लाई । तौ हरि काहे न होहिं सहाई ।
 जो मारग श्रुति साधु बतावैं । तेहि पथ चलत सबै सुख पावैं ॥
 पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै ।
 सपनैहुं नहीं दुख देत दरसन बात कोटिक को कहै ॥
 द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई ।
 यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गावई ॥ १९६ ॥

साधु-संगतिका ही दूसरा पक्ष असाधुसे असयोग है। इसीलिए कवि अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध पदमें कहता है कि ऐसे व्यक्तिसे सर्वथा असहयोग ही करना होगा जिसे सीता-राम प्रिय न हों—वह व्यक्ति चाहे पिता, भाई, माता, गुरु, स्वामी या कोई भी क्यों न हो—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।

सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी ॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँलौ ।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहाँ कहाँलौ ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पुजी प्रानते प्यारो ।
जासो होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ॥ १७४ ॥

भक्ति-मार्गके विविध अंगोंका एक पदमें पूर्ण संकलन करते हुए कविने ज्ञान-मार्गके भी कुछ अंगोंके साथ उनका विचित्र समन्वय इस प्रकार किया है—

जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतर ।

तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौ सोइ करु ॥
सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु ।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निषेध करि परिहरु ॥
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु ।
नयननि निरखि कृपासमुद्र हरि अगजग रूप भूप सीताबरु ॥
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु ।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु ॥ २०५ ॥

कविने अपने लिए जीवनका जो आदर्श निर्मित किया है उसके उल्लेख-के बिना लेख अधूरा ही रह जाएगा। नीचेका पद इसी अभिप्रायसे दिया जा रहा है। उसके इन थोड़ेसे शब्दोंमें उसके कुल आध्यात्मिक संदेशों का सार कितनी सजीवताके साथ आगया है !

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगौ ।

श्री रघुनाथ कृपालु कृपाते संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा काहूसो कळु न चहौंगो ।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहि दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि रहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो ॥ १७२ ॥

अविचल हरि-भक्ति-लाभका यह कितना अनुकरणीय पथ है ! ऐसे विचार-शील और निरंतर परहित-निरत व्यक्तिके लिए तो संसारकी सभी अनिष्टकारी शक्तियाँ भी स्वतः आनंददायिनी सिद्ध होंगी, इसमें संदेह नहीं। कविके ही शब्दोंमें पुनः—

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी ।

सम संतोष दया बिबेकते व्यवहारी सुखकारी ॥ १२१ ॥

भगवान् शिव और गोस्वामी तुलसीदास

यों तो शिवजीके साथ तुलसीदासके 'नाते' एकसे अधिक थे, जैसा 'मानस' में वे कहते हैं—

गुरु पितु मातु महेस भवानी । प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी ॥
सेवक स्वामि सखा सियपीके । हित निरूपधि सब बिधि तुलसीके ॥^१

किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इनमें सबसे प्रमुख नाता गुरु-शिष्यका था । जीवन-लीलाकी समाप्तिसे कुछ ही पूर्व श्रीराम, हनुमान् और शिवके साथ साथ जो उनके प्रमुख संबंध थे, उन्हें तुलसीदासने बाहुपीड़ासे पीड़ित होनेपर इसप्रकार स्पष्ट कहा था—

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित
हित उपदेसको महेस मानो गुरुकै ।
मानस बचन काय सरन तिहारे पायँ,
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुरकै ॥^२

ऊपर जो चौपाई उद्धृत है, उसके प्रथम और चतुर्थ चरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं । प्रथम चरणमें कदाचित् स्वतः सबसे प्रमुख नाता ही कविकी कल्पनामें पहले आता है । इस संबंधको ध्यानमें रखते हुए जब हम चतुर्थ चरण का मिलान ऊपर उद्धृत 'बाहुक' के छंदके दूसरे चरणसे करते हैं, तो भाव-साध्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है । 'मानस' की रचना सं० १६३१ में हुई थी और बाहु-पीड़ा हुई थी उससे कदाचित् लगभग पचास वर्ष पीछे; फिर भी वह नाता इतना दृढ़ और निश्चित था कि उसमें कालने कोई अंतर नहीं डाला ।

गोस्वामीजी ने 'मानस' में वाणी और विनायककी बंदना प्राचीन रुढ़िके अनुसार पहले श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरे ही श्लोकमें अपने श्रद्धा और विश्वासके आदर्श भवानी और शंकरकी वंदना की है, क्योंकि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके असंभव है, जैसा भगवान् श्री-कृष्णने 'गीता' में स्पष्ट कहा है—

श्रद्धावाँछभते ज्ञानम्^३

^१ 'रामचरितमानस' (रामदास गौड़का संस्करण), बाल० १५

^२ 'बाहुक', ४३

^३ 'गीता', अध्याय ४, श्लोक ३९

अर्थात् अद्वावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, और

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

अर्थात् अज्ञ, अद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिए न सुख है, न यह लोक है और न परलोक ही है ।^१

तीसरे श्लोकमें गोस्वामीजी जब गुरुकी वंदना करने लगते हैं तो उनकी समताके लिए उन्हें शंकरका ही ध्यान आता है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।

आगे चलकर सोरठोंमें जब दोबारा वे वंदना करते हैं तो पाँचवें सोरठमें वे फिर गुरुकी वंदना करते हैं । मुद्रित प्रतियोंमें उसका पाठ इसप्रकार मिलता है—

बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नररूप हरि ।

महामोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकर ॥

किंतु कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें दूसरे चरणके ‘हरि’ के स्थानपर ‘हर’ पाठ भी मिलता है ।^२ दोनों पाठोंमें कौन-सा अधिक सामीचीन है, यह कहना कठिन है; फिर भी नीचे दिए हुए कारणोंसे ‘हर’ पाठ हो अधिक समीचीन जान पड़ता है—

१—वंदनाएँ जिन सोरठोंमें मंगलाचरणके श्लोकोंके पीछे की गई हैं, उनकी संख्या पाँच है । इन पाँच सोरठोंमें से प्रथम चार तुकांत हैं—प्रत्येकमें प्रथम और तृतीय, तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणोंके तुक आपसमें मेल खाते हैं, और पाँचवें सोरठमें भी, जो ऊपर उद्धृत किया गया है प्रथम और तृतीय चरणोंका तुक मिलता है । फलतः यह धारणा स्वतः उत्पन्न होती है कि द्वितीय और चतुर्थ चरणोंका भी तुक उस सोरठमें भी मिल जाना चाहिए; और तुक मिलने के लिए ‘हर’ पाठ आवश्यक है ।

२—‘वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्’ पाठसे ‘बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हर’ पाठ मेल भी खाता है ।

१ ‘गीता’, अध्याय ४, श्लोक ४०

२ (क) सं० १८७० की एक प्रति जो काशी के प्रसिद्ध कलाविद् और विद्वान् रायकृष्णदासजीके पास है, और

(ख) सं० १८७८ की एक प्रति जो लेखकके संग्रहमें है ।

३—सोरठेमें आई हुई शब्दावली 'महामोह मत पुंज, जासु बचन रवि-करनि कर' 'विनयपत्रिका' में संगृहीत पदों और स्तोत्रोंकी नीचे लिखी शब्दावलियोंसे विचित्र मेल खाती है—ये पद और स्तोत्र शिवजीको संबोधित करके कहे गए हैं—

माह निहार दिवाकर संकर ।

देव मोह तम तरनि हर रुद्र संकर सरन ।

अहंकार निहार उदित दिनेस ।

मोह तम भूरि भानु ।

यह शब्दावली, जहाँतक लेखक का ध्यान है, तुलसीदासजीने किसी अन्य के लिए कहीं नहीं प्रयुक्त की है। इससे भी 'हर' पाठकी ही अधिक संभावना जान पड़ती है।

फलतः हमारी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि उक्त सोरठेमें 'हरि' के स्थानपर 'हर' पाठ ही कदाचित् अधिक शुद्ध है। यदि यह पाठ मान्य हो तो 'नररूप हरि' से किन्हीं नरहरिदासजीके उनके गुरु होनेकी कष्ट-कल्पना भी बहुत-कुछ दूर हो जाती है।

गोस्वामीजीने 'मानस' के लिए राम-चरित 'अध्यात्म-रामायण' से ही वस्तुतः लिया है, यह निर्विवाद है। 'अध्यात्म-रामायण' के कर्ता हैं शिवजी, जिन्होंने उसे उमासे कहा है। इसी तथ्यको गोस्वामीजीने इसप्रकार कहा है—

रामचरितमानस मुनि भावन । बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ उमासन भाखा ॥२॥

और 'रामचरितमानस' के भी प्रमुख वक्ता-श्रोता शिव-शिवा ही हैं। एक प्रकारसे यों भी शिवजी तुलसीदासजीके गुरु ठहरते हैं।

गोस्वामीजीने 'मानस' की मूल-कथा प्रारंभ करनेके पूर्व सती-मोह और उमा-शंभु-विवाहकी कथा कही है। केवल प्रबंधकी दृष्टिसे सती-मोह-प्रकरण ही आवश्यक नहीं था, उमा-शंभु-विवाह-प्रकरणकी बात तो दूर रही, क्योंकि बिना इन प्रकरणोंके भी 'अध्यात्मरामायण' और 'वाल्मीकि-रामायण' का प्रारंभ सुंदर हुआ है। लेखक का अनुमान है कि भगवानसे पूर्व उनके भक्त और कदाचित् सबसे बड़े भक्तकी कथा कहनी ही गोस्वामीजीको इष्ट थी, इसलिए इसप्रकार सती-मोह और उमा-शंभु-विवाह-प्रकरण उन्होंने राम-कथासे पूर्व रखे, यद्यपि इनका उससे प्रबंधकी दृष्टिसे कोई संबंध नहीं था। भागवत-

१ 'विनयपत्रिका', ९, १०, १३ और १२ क्रमशः

२ 'रामचरितमानस', (रामदास गौड़का संस्करण) बाल०, दो० ३५

संप्रदायने कदाचित् शिवको ही हरिका सबसे बड़ा भक्त माना है। इसके प्रमाण-स्वरूप हम 'श्रीमद्भागवत' चतुर्थ स्कंधके दूसरेसे चौथे अध्यायतक की कथा ले सकते हैं, जिसमें दत्त-द्वारा शिवके अपमान, दत्तका यज्ञ, सतीके देहत्याग और पुनः शिवके प्रसन्न होनेपर यज्ञकी समाप्तिका सविस्तर वर्णन हुआ है। अथवा, 'भक्तमाल' के सातवें छप्पयपर प्रियदासजीकी टीकाको ही हम ले सकते हैं। उक्त छप्पयमें द्वादश भक्तोंका उल्लेख किया गया है—जिनमें 'विधि नारद शंकर सनकादिक' की गणना की गई है। प्रियादासजीने टीका केवल शिवजी और अजामिलके संबंधमें की है, अजामिलकी कदाचित् इसलिए कि उससे श्रीनारायणके नाम-स्मरणका माहात्म्य सूचित होता है और शिवजीकी कदाचित् केवल इसीलिए कि वह भक्तिका चरम आदर्श उपस्थित करती है। इस टीकामें उन्होंने सती-मोह और शिव-द्वारा सती-त्यागकी कथा भी कही है। फलतः कदाचित् अपने सामने भक्तिका चरम आदर्श उपस्थित करनेके कारण भी शिव-जीको गोस्वामीजीने गुरुवत् माना है और अपने इन 'गुरु' का चरित्र 'गोविंद' के चरित्रसे पहले गाया है।

'मानस' के बालकांडके प्रारंभकी वंदनाओंके संबंधमें ऊपर हम देख ही चुके हैं, अयोध्या और अरण्यकांडोंके भी प्रारंभ करनेवाले पहले ही श्लोक शिव-जीकी वंदनामें कहे गए हैं। संभव है लोग इस विशेषताके लिए अन्य कारण दे सकें; किंतु लेखकको तो इस विशेषतामें स्पष्ट व्यंजना दिखाई पड़ती है कि शिवजीको गुरु माननेके कारण ही कदाचित् आप-से-आप उनकी वंदना इन कांडोंमें रामकी वंदनासे भी पूर्व हो गई है।

भारतीय भक्तोंने अपने सामने सदा यही सिद्धांत रखा है—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।^१

कदाचित् इसी सिद्धांतके अनुसार शिवजीकी स्तुतिमें कहे गए एक स्तोत्र-में तुलसीदासजी उन्हें न केवल 'निर्गुणं निर्विकारम्' कहते हैं, वरन् 'विष्णुविधि-बंधचरणारविन्दम्' भी कहते हैं^२। एक दूसरे स्तोत्रमें उन्होंने शिवजीको 'राम-रूपी रुद्र'^३ कहा है, और एक अन्य स्तोत्रमें हरि और शिवकी एकत्र स्तुति की है और उसका नाम 'हरि-शंकरी-नाममंत्रावली' रखा है।^४

^१ 'भक्तमाल' का मूल, मंगलाचरण, दो० १

^२ 'विनय-पत्रिका', १२

^३ वही, , ११

^४ वही, , ४९

इन कुल बातोंपर ध्यान देनेसे हमारी यह धारणा अत्यंत पुष्ट हो जाती है कि ऊपर उद्धृत—

‘गुरु पितु मातु महेस भवानी’ आदि

अथवा—

बंधु गुरु जनक जननी विधाता ।^१

आदि-वाक्योंको कहते हुए भी शिवजीको गोस्वामीजी आदिसे अंततक गुरुवत् मानते रहे । फलतः लौकिक गुरु हम चाहे जिसे मानें उनके अलौकिक गुरु शंकर ही थे इसमें संदेह नहीं, और कदाचित् यही वह नाता था, जो तुलसीदासको अपने अंतिम दिनोंमें भी सबसे अधिक मान्य था ।

^१ ‘विनयपत्रिका’, ११

